विश्व की कहानी

आकाशगंगा के एक भाग का दूरदर्शक में दिखाई पड़नेवाला दृश्य

यह 'हंस' तारा-समूह में दिखाई पड़नेवाले इस महान् नक्षत्र-मेखला के एक अंश का दूरदर्शक-फ़ोटो है। इससे आप स्पष्टतः जान सकते हैं कि प्रकाशित कुहरे जैसी यह वस्तु वास्तव में अनगिनत सुदूर तारों की सघन राशि है।
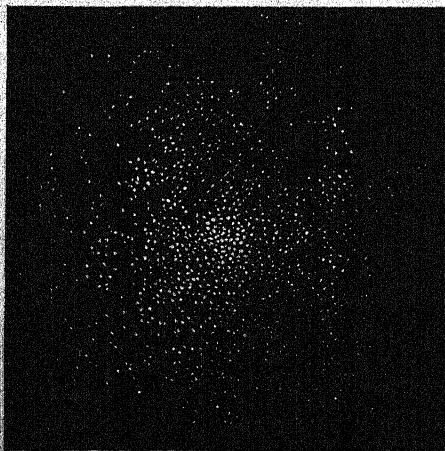
तारापुंजों के दो पुराने चित्र

उपयुक्त यंत्रों के अभाव में पहले भ्रमवश इनमें से कई एक नीहारिका माने जाते रहे। बाईं ओर के चित्र में उन्नीसवीं शताब्दी के अर्ल आफ़ रॉस के सुप्रसिद्ध दूरदर्शक द्वारा देखे गए 'कुंभ' तारा-समूह के एक तारापुंज का दृश्य अंकित है।
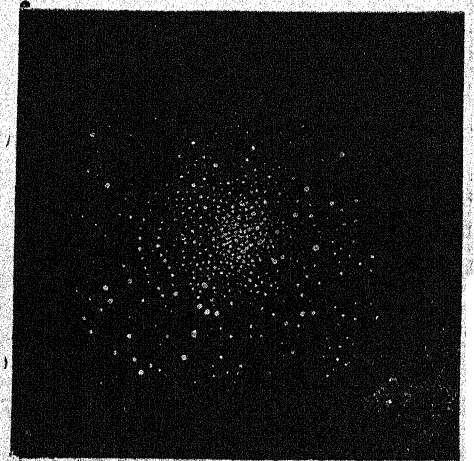
तारापुंज और नीहारिकाएँ

आकाशगंगा

अँधेरी रात में, बरसात के बाद जब हमारा वायुमंडल धुलकर स्वच्छ हो जाता है, आकाश में एक प्रकाश की नदी-सी दिखलाई पड़ती है, जिसे आकाशगंगा, मंदाकिनी, या सुरनदी कहते हैं। ग्रामीण लोग इसे 'डहर' कहते हैं, जिसका अर्थ है मार्ग। योरप में इसे 'दूधिया मार्ग' कहते हैं। यह मार्ग मोती के समान श्वेत प्रकाश से झलकता हुआ क्षितिज के किसी एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचता है और प्रत्येक अँधेरी रात में देखा जा सकता है, यद्यपि जब आकाश पूर्णतया स्वच्छ नहीं रहता तब इसकी चमक दब जाती है। आकाशगंगा अपनी पूरी लंबाई भर एक चमक की नहीं है। हंस तारा-समूह से लेकर नराश्व तारा-समूह तक यह बहुत अधिक चमकीली है। यदि हम सारे आकाश का चित्र किसी गोल सतह पर बनाएँ तो हम देखेंगे कि आकाशगंगा मेखला की तरह व्योममंडल को दो बराबर भागों में बाँट देती है।

दूरदर्शक से देखने पर, या फ़ोटो खींचने पर, तुरंत पता चलता है कि आकाशगंगा अनेक नन्हें-नन्हें तारों की राशि है, जिसमें तारे इतने घने हैं कि कोरी आँख से वे पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते। दूरदर्शक में आकाशगंगा ऐसी जान पड़ती है मानों काले कपड़े पर चाँदी की महीन बुकनी इस प्रकार छिड़की हो कि कहीं-कहीं एक-एक कण अलग दिखलाई पड़ते हों और कहीं-कहीं रजत-कणों का ढेर लग गया हो।

आकाशगंगा की चौड़ाई सर्वत्र एक-सी नहीं है। यह कहीं सँकरी कहीं चौड़ी है और कहीं-कहीं इसकी दो धाराएँ हो गई हैं। फिर, कहीं-कहीं इसमें काले धब्बे भी पड़ गए हैं, जो निस्संदेह आकाशगंगा और हमारे बीच स्थित काली नीहारिकाओं के कारण बने होंगे।

तारामेघ

आकाशगंगा के अतिरिक्त नभोमंडल में कई एक चमकीले धब्बे हैं जो बड़े दूरदर्शक से देखने पर या फ़ोटो खींचे जाने पर असंख्य तारों के घने समूह जान पड़ते हैं। इनको 'तारामेघ' कहते हैं। इस प्रकार के कई तारामेघ स्वयं आकाशगंगा में ही हैं। सबसे सुन्दर ऐसा मेघ धनु तारासमूह में है, परंतु कुछ तारामेघ आकाशगंगा से हटकर भी हैं। दो चमकीले तारामेघ आकाश के दक्षिणी ध्रुव से २०° पर हैं और भूमध्यरेखा के दक्षिण में स्थित देशों से ही अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। इनको 'मैगेलानिक तारामेघ' कहते हैं। यह नाम प्रसिद्ध नाविक मैगेलन के नाम पर पड़ा है।

तारापुंज और नीहारिकाएँ

नभोमंडल में प्रकाश के अन्य धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें से अधिकांश इतने छोटे हैं कि हमको उनका पता केवल दूरदर्शक से चलता है। इनमें से वे जो केवल तारों के झुंड हैं 'तारापुंज' या कंदुकाकार तारापुंज कहे जाते हैं; शेष 'नीहारिका' (अंग्रेज़ी में नेबुला) कहलाते हैं। प्रत्येक तारापुंज में हज़ारों तारे दिखलाई पड़ते हैं और उनका दृश्य दूरदर्शक में अत्यंत सुन्दर जान पड़ता है।

आकाश में लगभग सौ तारापुंज हैं। ये सब बहुत पहले ही देखे जा चुके थे। हमारे यंत्रों की शक्ति बढ़ने पर भी हाल में नवीन तारापुंजों का पता नहीं लगा है। इससे समझा जाता है कि और अधिक तारापुंज हैं ही नहीं। अधिकांश तारापुंज इतने मंद प्रकाश के हैं कि कोरी आँख से वे दिखलाई नहीं पड़ते, केवल पाँच-छः ही ऐसे हैं जो कोरी आँख से अत्यंत मंद तारे की तरह देखे जा सकते हैं। इनमें से वह जो सब से अधिक चमकीला है 'व नराश्व' है। वह नक़्शे की सहायता से पहचाना जा सकता है।

कंदुकाकार तारापुंजों में एक विशेष बात यह है कि सभी में बहुत से सीफ़िआइड परिवर्त्ती हैं—वे तारे जिनका प्रकाश विशेष रूप से घटा-बढ़ा करता है। इससे इन तारापुंजों की दूरी सुगमता से जानी जा सकी है। उनके अनुसंधान से जो उत्तर मिला है वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है! निकटतम तारापुंज से भी प्रकाश के आने में १८००० वर्ष से ऊपर

समय लगता है ! सब से दूरवाला तारापुंज इससे दस गुनी दूरी पर है। जिस प्रकाश से हम दूरतम तारापुंज को देखते हैं वह वहाँ से उस क्षण चला होगा जब पृथ्वी पर मनुष्य ही न रहा होगा ! वहाँ से प्रकाश के प्रस्थान के बाद इस पृथ्वी पर मनुष्य का विकास, सभ्यता का उदय, विभिन्न राज्यों का उत्थान और पतन, ये सभी लीलाएँ घटित होती रही हैं और उधर उस प्रकाश की किरण पौने दो लाख मील प्रति सेकंड के वेग से बराबर दौड़ती रही है और ऐसी तीव्र गति से दौड़ने के बावजूद भी केवल आज हमारे पास तक वह पहुँच पाई है !

हम देख चुके हैं कि तारे अनंत दूरी तक नहीं बिखरे हैं; कुल तारे मिलकर एक बाटी के रूप में हैं जिसे हम 'मंदाकिनी संस्था कहते है। गणना से पता चला है कि कंदुकाकार तारापुंजों का विस्तार भी लंबाई-चौड़ाई में वहीं तक है जहाँ तक हमारी मंदाकिनी-संस्था का है, परंतु मोटाई में विस्तार अधिक है। सर-जेम्स जीन्स ने तारों और कंदुकाकार तारापुंजों की सम्मिलित संस्था की उपमा किशमिश पड़ी एक गोल परंतु कुछ चिपटी पावरोटी से दी है, जिसे बीच से काटकर और मक्खन से चुपड़कर फिर जोड़ दिया गया हो। इसमें मक्खन तो हुआ तारों की वह घनी बस्ती जो हमारी मंदाकिनी-संस्था है और प्रत्येक किशमिश उसमें का एक-एक कंदुकाकार तारापुंज। हमारा सूर्य इस पावरोटी के ठीक बीच में नहीं है। उसके ऊपर और नीचे तो प्रायः उतना ही स्थान है, जिससे सूर्य मक्खनवाली तह में ही पड़ता है, परंतु बाजू में एक ओर को कुछ अधिक स्थान है। जीन्स की सम्मति तो यह है कि सूर्य केंद्र और सतह के लगभग बीच में है, जिससे एक ओर व्यास का कुल एक-चौथाई और दूसरी ओर तीन-चौथाई स्थान छूटा है, परंतु अन्य ज्योतिषियों के मतानुसार सूर्य केंद्र से इतना हटा हुआ नहीं है।

'शौरी' नामक तारा-समूह के एक प्रसिद्ध तारापुंज का माउण्ट विल्सन के ६० "ची दूरदर्शक द्वारा दिखाई पड़नेवाला भव्य स्वरूप (फ़ो०-'माउण्ट विल्सन वेधशाला')

जीन्स लिखते हैं—"यह अत्यंत घरेलू नमूना वह सरलतम प्रतीक है जिसे मैं रात्रि के आकाश के राजसी वैभव के पीछे छिपी परिपाटी को समझाने के लिए रच सका हूँ। इस प्रतीक से वास्तविकता तक पहुँचने के लिए हमें बड़े और उससे बड़े और उससे भी बड़े पैमाने पर जाना पड़ेगा, यहाँ तक कि प्रतीक के भीतर के स्थान का एक-एक नन्हा कण करोड़ों मीलों में परिवर्तित हो जाय; एक-एक किशमिश के बदले हमें सैकड़ों-हज़ारों तारों से भरे पुंजों को रखना होगा; और मक्खन के स्तर के बदले कई करोड़ तारों को रखना होगा। फिर, इस पावरोटी के शेष सारे दृश्य को घुलकर आकाश का काला शून्य बन जाना पड़ेगा। यदि हम अपनी कल्पना-शक्ति को इन सब परिवर्त्तनों को दृष्टिगोचर करने के लिए प्रेरित कर सकें तो परिणाम फिर घरेलू नहीं रह जायगा। वह मनुष्य की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हुए दृश्यों में से महानतम दृश्य को खोलने की कुंजी बन जायगा। वह हमें आकाश की अद्भुत यवनिका के अर्थ को एक नई समझ से देखने के योग्य बना देगा।"

देवयानी तारा-समूह की महान् नीहारिका

जिससे हम तक प्रकाश आने में आठ लाख वर्ष लगते हैं! सौंदर्य्य में यह अद्वितीय है।
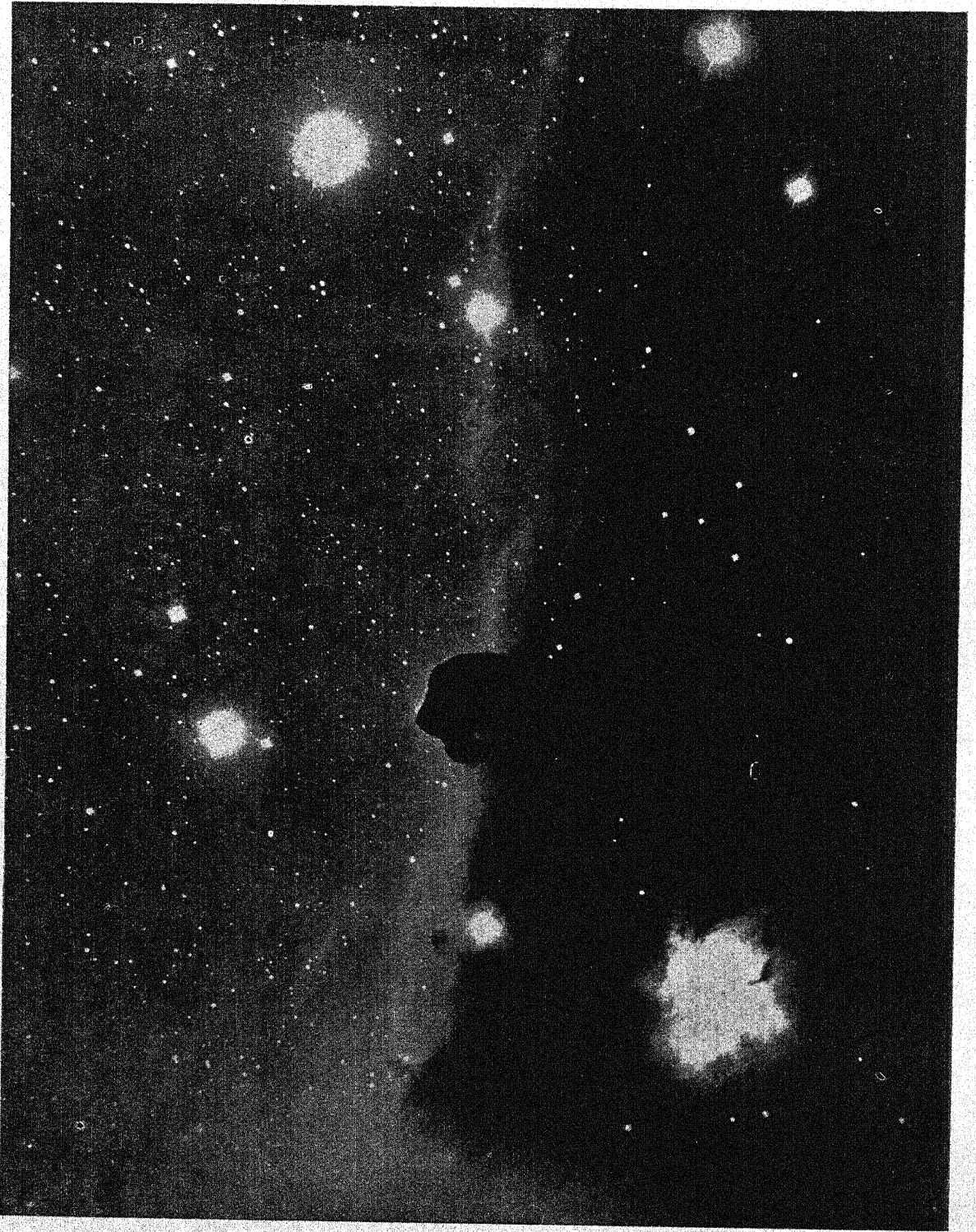
एक आश्चर्यजनक काली नीहारिका

ऐसी कई अदृष्ट नीहारिकाएँ आकाश में हैं। ये प्रकाश के लिए अपारदर्शक होती हैं।

खुले तारापुंज

कंदुकाकार तारापुंजों में हज़ारों तारे एक दूसरे के इतने समीप दिखलाई पड़ते हैं कि उनके एक ही संस्था के सदस्य होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। परंतु कई खुले तारापुंज हैं, जिनके सदस्य दूर-दूर पर दिखाई देते हैं। बहुधा इनके सदस्यों की संख्या अल्प होती है, बहुत अधिक हुई तो यह संख्या एक हज़ार तक पहुंच जाती है। लगभग २०० खुले तारापुंज हमें ज्ञात हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध कृत्तिका तारापुंज है, जिसे हिन्दी में 'किचपिचिया' भी कहते हैं। अँगरेज़ी में इसे 'प्लाईऐडीज़' कहते हैं। यह वृष नामक तारा-समूह में है। कोरी आँख से प्रथम दृष्टि डालने पर इस पुंज के समूह अस्पष्ट, एक दूसरे में मिले हुए और किचपिच दिखलाई पड़ते हैं, परंतु ध्यान से देखने पर इसमें छः तारे पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ते हैं। असाधारण तीव्र दृष्टिवाले व्यक्ति छः से अधिक तारे भी देख सकते हैं। छोटे दूरदर्शक में कृत्तिका तारापुंज बहुत सुंदर लगता है। इसमें तब पचीसों तारे दिखलाई पड़ते हैं। फ़ोटोग्राफ़ खींचने पर तो हज़ार से ऊपर तारे व्यक्त हो जाते हैं।

वृष तारा-समूह में 'हाईऐडीज़' नामक एक दूसरा तारा-पुंज भी है। यह नाम एक यूनानी शब्द से निकला है, जो स्वयं वर्षा शब्द से उत्पन्न हुआ है। इसलिए इस तारापुंज को हम 'जलदेविका' कहें तो अनुचित न होगा। यह तारा-पुंज रोहिणी तारे के पास है, परंतु यह दूरदर्शक में भी विशेष सुंदर नहीं लगता, क्योंकि तारे कुछ दूर-दूर पर हैं। कर्क में चषाल (मधुमक्खियों का छत्ता) नामक एक तारापुंज है, जो दूरदर्शक में बहुत सुंदर जान पड़ता है।

कुछ तारापुंजों के सदस्य तो इतने बिखरे हुए हैं कि हम उनकी निजी गतियों और दूरियों के प्रायः बराबर होने के कारण ही अनुमान करते हैं कि वे किसी पुंज के सदस्य हैं। उदाहरणतः, सप्तर्षि के सात चमकीले तारों में से पाँच एक ही दिशा में और एक ही वेग से चल रहे हैं। निस्संदेह वे एक ही पुंज के सदस्य होंगे। वे आकाश में वैसे ही उड़ते चले जा रहे हैं जैसे पक्षियों की एक मंडली के विभिन्न पक्षी। इसलिए ऐसे पुंजों को 'चल पुंज' कहते हैं। उनकी चाल से ही हम ऐसे पुंजों को पहचानते हैं।

कुछ ज्योतिषी संदेह करते हैं कि सूर्य स्वयं एक पुंज का सदस्य है, और केवल इस पुंज के बीच में रहने के कारण हम अपने पुंज को अन्य पुंजों की तरह नहीं देख पाते। इसके प्रमाण में वे बतलाते हैं कि बहुत से चमकीले तारे एक पतली धारा में हैं, जिसका धरातल आकाशगंगा के धरातल से कुछ भिन्न है। यह धारा मृग, श्वान और वृश्चिक तारासमूहों से होकर जाती है। सब ब्योरों की जाँच करने से पता चलता है कि हमारा पुंज फूली हुई कचौड़ी की तरह—कुछ चिपटा और वृत्ताकार घेरे में—सीमित है। इस पुंज का व्यास दस-पंद्रह नील मील होगा! तो भी अपनी मंदाकिनी-संस्था की नाप के आगे यह बहुत साधारण-सा पुंज है!

स्थिरता हमारे विश्व के भाग्य में मानों बदी ही नहीं है! सभी पिंड चलते दिखाई देते हैं। तब हमारा सूर्य ही क्यों स्थिर रहे? यह भी चलता है। कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले सब तारों के औसत के हिसाब से हमारा सूर्य (हमें साथ लेकर) १२ मील प्रति सेकंड के वेग से शौरी नामक तारासमूह की ओर भागा जा रहा है। यह बात सिद्धान्त-आश्रित कल्पना नहीं है; वेग ऐसी नापों की नींव पर स्थापित है, जिसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। कुछ ज्योतिषियों की धारणा है कि यह वेग समस्त मंदा-किनी-संस्था के नाचने के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि हमारा सूर्य इस संस्था के केंद्र पर स्थित नहीं है। संभव है कि पाठक समझें कि संस्था के केंद्र पर कोई विशालकाय पिंड होना चाहिए था, जिसकी प्रदक्षिणा हमारा सूर्य तथा अन्य तारे करते, परंतु ज्योतिषियों का कहना है कि हमारी मंदाकिनी-संस्था सौर परिवार की तरह नहीं है, जिसके केंद्र में एक विशाल पिंड (सूर्य) स्थित है और अन्य सदस्य नन्हें बच्चों की तरह उसकी प्रदक्षिणा करते है। हमारी मंदाकिनी-संस्था के नाच की तुलना गरबा-नृत्य से करनी चाहिए, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति बहुत-कुछ एक समान होते हैं। जीन्स ने तो हमारी संस्था के घूमने के काल तथा इसके विस्तार और गुरुत्वाकर्षण-बल पर विचार करके सारी संस्था को तौल भी डाला है! उनकी गणना के अनुसार हमारी मंदाकिनी-संस्था की तौल हमारी सूर्य की तौल से लगभग १ खरब गुनी होगी!

नीहारिकाएँ

नीहारिकाएँ आकाश में मंद प्रकाश के हलके बादल की तरह दिखलाई पड़ती हैं। साधारणतः वे इतनी छोटी होती हैं कि कोरी आँख से वे दिखलाई नहीं पड़तीं; और थोड़ी-सी जो दिखलाई भी पड़ती हैं, केवल तारे-सी जान पड़ती हैं—उनके वास्तविक रूप की कोई झलक हमको नहीं मिलती। केवल बड़े-बड़े दूरदर्शकों से फ़ोटो लेने पर ही हमको उनके असली स्वरूप का पता चलता है। अधिकतर

कई घंटों का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) देना पड़ता है, अन्यथा सब ब्योरे उतर नहीं पाते ।

नीहारिकाओं की संख्या कई लाख होगी । ज्यों-ज्यों हमारे यंत्रों की शक्ति और फ़ोटो के प्लेट की तेज़ी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञात नीहारिकाओं की गिनती बढ़ती जा रही है । फ़ोटो के प्लेट में यह गुण है कि फीका प्रकाश जितने ही अधिक समय तक उस पर पड़ेगा, चित्र का कालापन उतना ही अधिक हो जायगा । इसलिए ऐसी फीकी नीहारिकाओं का फ़ोटोग्राफ़ भी उतर सकता है, जिन्हें हम घंटों घूरते रहने पर भी बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में नहीं देख सकते ।

कृत्तिका तारापुंज की नीहारिका
[फ़ो०—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से]

धूम्रसम नीहारिकाएँ

कुछ नीहारिकाएँ काली होती हैं । उनका पता हमें केवल इसलिए चलता है कि उनके पीछे पड़नेवाले तारे छिप जाते हैं या मंद पड़ जाते हैं । प्राचीन समय में लोगों का विचार था कि आकाश के ये काले स्थान आकाशीय पृष्ठ के छेद हैं, परंतु आधुनिक फ़ोटोग्राफों को देखते ही पता चल जाता है कि काली नीहारिकाएँ अवश्य काले बादलों की तरह हैं, जो अपारदर्शक हैं और तारों के सामने पड़ने से उनको पूर्णतया या अंशतः छिपा देती हैं । ऐसी नीहारिकाएँ विशेष रूप से आकाशगंगा में दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि वहीं तारों की संख्या इतनी अधिक है कि तारों के छिपने से हमारा ध्यान उधर आकर्षित हो । आकाशगंगा में एक बड़ा और प्रायः गोल धब्बा इतना काला लगता है कि उसका नाम 'कोयले की बोरी' पड़ गया है । काली नीहारिकाओं से कहीं-कहीं लम्बी-लम्बी 'गलियाँ' बन गई हैं । कहीं-कहीं किसी काली नीहारिका के पीछे पड़नेवाला तारा नीहारिका के इतना निकट है कि नीहारिका के किनारे प्रकाशित हो उठते हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य से हमारे पार्थिव बादलों के किनारे ! ज्योतिषियों का विश्वास है कि ये काली नीहारिकाएँ अत्यन्त सूक्ष्म धूलि से बनी हैं। यह धूलि गुरुत्वाकर्षण नियम से प्रेरित होकर केवल इसलिए एकत्रित न हो पाती होगी कि काली नीहारिकाएँ भी अन्य पिंडों की तरह अपनी धुरी पर घूमती होंगी ।

श्वेत नीहारिकाओं में से बहुत-सी अत्यन्त अनियमित रूप की हैं। इनकी घनता सब प्रकार की होती है । कुछ नीहारिकाएँ तो मकड़ी के जाले के समान हलकी हैं, जिनका फ़ोटो बहुत समय तक प्रकाश-दर्शन देने पर ही उतरता है । दूसरी ओर ऐसी नीहारिकाएँ भी हैं, जो बहुत बड़ी और प्रकाशवती हैं । मृग तारा-समूह की नीहारिका कोरी आँख से दिखलाई पड़ती है । फ़ोटोग्राफ़ों से पता

'स्वस्तिक' और 'नराश्व' तारा-समूहों के क्षेत्र में आकाशगंगा का एक अत्यन्त सघन और प्रकाशवान् भाग

मृग तारा-समूह की महान् नीहारिका का भव्य दृश्य

दूरदर्शक में चमकीले श्वेत मेघ के समान दिखाई पड़नेवाली यह सुंदर नीहारिका एक अनियमित आकार की धूम्रसम नीहारिका है। इसकी दूरी का कुछ अंदाज़ आप इस बात से लगा सकते हैं कि लगभग पौने दो लाख मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाली प्रकाश-किरण को इससे हमारे पास तक पहुँचने में कई लाख वर्ष का समय लगता है! नंगी आँखों से देखने पर यह आकाश में एक धुँधले बिन्दु मात्र-सी दिखाई पड़ती है, किन्तु ज्योतिषियों का अनुमान है कि यह इतनी विशद है कि यदि बीस करोड़ मील व्यासवाले एक पिण्ड की कल्पना की जाय और उस आकार के दस लाख पिण्ड इकट्ठे करके रक्खे जाएँ तो भी वे सब उतनी जगह न घेर पाएँगे, जितनी कि इस नीहारिका ने घेर रक्खी होगी!

चलता है कि वस्तुतः यह आकाश में इतना क्षेत्र घेरती है जितना कि पूर्णिमा का चन्द्रमा। छोटे दूरदर्शक में यह नीहारिका श्वेत मेघ के समान और बहुत सुन्दर दिखलाई पड़ती है। कुछ नीहारिकाओं में तो स्पष्ट जान पड़ता है कि नीहारिकाओं की चमक निजी नहीं है, समीपस्थ तारे की चमक के कारण वे प्रकाशित हो उठी हैं। इसका एक उदाहरण कृत्तिका की नीहारिका है, जो कृत्तिका तारापुंज के तारों को घेरे हुए है और केवल फ़ोटोग्राफ़ों में दिखलाई पड़ती है। ज्योतिषी अनुमान करते हैं कि काली नीहारिकाएँ और अनियमित रूपवाली सभी श्वेत नीहारिकाएँ वस्तुतः एक ही जाति की हैं, अन्तर इतना ही है कि श्वेत नीहारिकाएँ चमकीले तारों के पास हैं और उनके प्रकाश से वे चमकती रहती हैं।

नीहारिकाएँ नाप में बहुधा बहुत बड़ी होती हैं और तौल में अपेक्षाकृत बहुत कम। उदाहरणतः गणना से पता चला है कि मृग की नीहारिका का व्यास १ नील मील होगा! एक चक्कर के लगाने में उसे ३ लाख वर्ष लगते होंगे और उसका घनत्व इतना कम होगा कि उसके हिसाब से हमारी वायु १० शंख गुना भारी होगी! हम किसी बरतन की हवा को निकालने के लिए चाहे कितना भी पंप चलावें, उसके घनत्व को हम इतना न घटा पावेंगे कि बरतन के भीतर की वायु इस नीहारिका की तुलना कर सके। तो भी अत्यंत दीर्घकाय होने के कारण समूची नीहारिका हमारे सूर्य से दस हज़ार गुनी भारी है। यदि इस नीहारिका का द्रव्य घनीभूत होकर तारों में परिणत हो जाय और प्रत्येक तारा हमारे सूर्य के समान भारी हो तो इस नीहारिका से दस हज़ार तारे बन जायँगे।

नियमित नीहारिकाएँ

अनियमित रूप की नीहारिकाएँ एक जाति की नीहारिकाएँ हैं। दूसरी जाति की नीहारिकाएँ वे हैं, जो नियमित रूप की होती हैं। इनका रूप विविध प्रकार का होता है, कुछ गोल, कुछ तनिक चिपटा, कुछ और चिपटा, कुछ बहुत चिपटा, कुछ स्पष्ट रूप से सर्पिलाकार।

इन नीहारिकाओं में कई तारे भी रहते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन तारों में से अधिकांश सीफ़िआइड परिवर्त्ती हैं, जिनका प्रकाश विशेष रीति से घटा-बढ़ा करता है। हम देख चुके हैं कि सीफ़िआइडों के चक्रकाल से हम उनकी दूरी जान सकते हैं। इसलिए हमें इन नीहारिकाओं की भी दूरी ज्ञात हो जाती है।

परन्तु नीहारिकाओं की भी क्या दूरी है! यद्यपि प्रकाश एक सैकंड में पौने दो लाख मील से अधिक ही चल लेता है—वस्तुतः १ लाख ८६ हज़ार मील—तो भी उसे निकटतम नीहारिका से आने में ७,५०,००० वर्ष लगते हैं।

ये नीहारिकाएँ हमारी मंदाकिनी-संस्था के बाहर हैं। हमने देखा है कि हमारी मंदाकिनी-संस्था बाटी के रूप में है और बहुत बड़ी है। हमने यह भी देखा है कि कंदुकाकार तारापुंज हमारी चिपटी मंदाकिनी-संस्था के आसपास ही है; और हमारी मंदाकिनी-संस्था के तारे तथा कंदुकाकार तारापुंजों की सम्मिलित संस्था फूली हुई कचौड़ी के आकार की है। तंतुमय और धूम्रसम नीहारिकाएँ सभी इस कचौड़ी के भीतर ही हैं। परन्तु नियमित नीहारिकाएँ सब इस कचौड़ी के बाहर हैं। हम देख चुके हैं कि कंदुकाकार तारापुंज हमसे बहुत दूर हैं, परन्तु निकटतम नियमित नीहारिका भी दूरतम तारापुंज की चौगुनी दूरी पर है। इसलिए नीहारिकाएँ हमारी मंदाकिनी-संस्था से पूर्णतया पृथक् हैं। वस्तुतः ये नीहारिकाएँ सभी स्वतंत्र मंदाकिनी-संस्थाएँ हैं। दूर से देखने पर हमारी मंदाकिनी-संस्था भी अवश्य एक नियमित नीहारिका की ही तरह लगेगी।

निकटतम नीहारिका वह है, जो त्रिकोण नामक तारासमूह में है और जिसे 'एम ३३' नंबर दिया गया है। दूरी के हिसाब से द्वितीय नीहारिका देवयानी नामक तारासमूह में है। सौंदर्य में यह अद्वितीय है। यह कोरी आँख से भी देखी जा सकती है। परन्तु कोरी आँख से देखने पर निराशा ही होती है, क्योंकि यह फीके तारे की तरह ही जान पड़ती है। तो भी इसे एक बार देखना अवश्य चाहिए और देखते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सभी तारों से दूर है; इससे हमारे पास तक आने में प्रकाश को ८,००,००० वर्ष लगे हैं! इतने वर्षों में प्रकाश कितने मील चला होगा!

अन्य नीहारिकाएँ इनसे कहीं दूर हैं। पता चला है कि कई का प्रकाश आने में २५ करोड़ वर्ष समय लगता है! इन नीहारिकाओं की तौलें भी आँकी गई हैं, क्योंकि वे घूमती भी रहती हैं। यदि वे घूमती न रहतीं तो इतनी विस्तृत न रहतीं। उनका सब द्रव्य गुरुत्वाकर्षण के कारण एकत्रित होकर एक पिंड हो गया होता। गणना से पता चला है कि तौल में ये नीहारिकाएँ लगभग हमारी ही मंदाकिनी-संस्था के समान हैं। नाप में भी वे हमारी मंदाकिनी-संस्था की ही तरह हैं। इसलिए कोई संदेह नहीं रह जाता कि ये नीहारिकाएँ भी हमारी मंदाकिनी-संस्था की ही तरह स्वतंत्र मंदाकिनी-संस्थाएँ हैं। इनको लोग द्वीप-विश्व

(अँग्रेज़ी में 'आइलैंड यूनिवर्स') भी कहते हैं । परंतु यह न समझना चाहिए कि प्रत्येक नीहारिका की भीतरी रचना या बाहरी रूप ठीक हमारी ही मंदाकिनी-संस्था की तरह है । फ़ोटोग्राफ़ों से पता चलता है कि नियमित नीहारिकाओं के रूप एक-से नहीं होते । वस्तुतः सब नीहारिकाओं के रूपों पर मनन करने से हम महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं । जैसे साखू के जंगल के नन्हें पौधों और विविध नाप के वृक्षों को देखकर हम साखू के जन्म और जीवन-इतिहास की कथा को घंटे, दो घंटे में जान सकते हैं, वैसे ही विविध नीहारिकाओं के रूप आदि का अध्ययन करके उनके जन्म और जीवन-इतिहास की कथा को वैज्ञानिकों ने कुछ ही वर्षों में जान लिया है।

अब हम देख सकते हैं कि हमारा नाक्षत्र संसार कैसा है । तारे सम रूप से सर्वत्र नहीं बिखरे हुए हैं । वे झुंडों में बँटे हुए हैं । जिस झुंड में हम हैं वह बाटी या थोड़ी-सी फूली कचौड़ी की तरह है । यदि हम कंदुकाकार तारा-पुंजों को भी अपने में गिन लें तो हमारा झुंड अच्छी तरह फूली हुई कचौड़ी के रूप का है । हमारे ही झुंड की तरह तारों के प्रायः असंख्य अन्य झुंड हैं । ये झुंड या द्वीप-विश्व एक दूसरे से दूर-दूर पर बसे हैं ।

यदि हम पैमाने के अनुसार इन विश्वों का निरूपण करना चाहें और हम दिल्ली शहर को अपनी मंदाकिनी-संस्था का केन्द्र मानें तथा अपने निकटतम द्वीप-विश्व को मेरठ पर रक्खें, तो इस पैमाने पर हमारी मंदाकिनी-संस्था दिल्ली शहर से कुछ ही बड़ी ठहरेगी । मेरठ शहर हमारे निकटतम द्वीपविश्व को निरूपित करने के लिए काफ़ी बड़ा है । हम देखते हैं कि द्वीपविश्व बहुत दूर-दूर पर छिटके हुए हैं और उनके बीच बहुत-सा स्थान खाली छूटा है। साथ ही सब ज्ञात द्वीपविश्व इतनी दूर तक फैले हुए हैं कि पूर्वोक्त पैमाने पर सबको पृथ्वी पर निरूपित नहीं किया जा सकेगा; पृथ्वी छोटी पड़ेगी ।

यदि इसी पैमाने पर हम पृथ्वी का भी निरूपण करना चाहें तो वह इतनी छोटी होगी कि किसी भी सूक्ष्मदर्शक यंत्र से हम इसे देख न पाएँगे !!

तीन सुस्पष्ट विभागों में बँटी हुई अन्य एक नीहारिका (फ़ो०—'लिक वेधशाला')
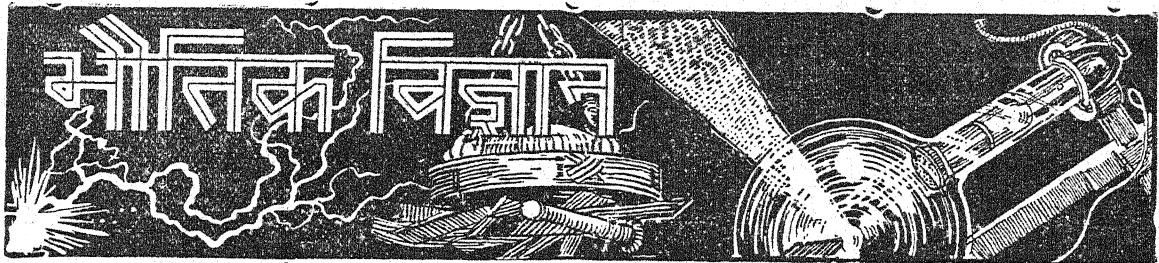
विद्युत् का उत्पादन

विद्युत् के विकास की कहानी आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले आरम्भ होती है जबकि यूनानियों ने 'ऐम्बर' के टुकड़ों के एक विशेष गुण की परख की थी। उन्होंने देखा कि यदि ऐम्बर को ऊन से रगड़ें तो उसमें (ऐम्बर में) एक अद्भुत आकर्षण-शक्ति का समावेश हो जाता है—वह नन्हें-नन्हें तिनकों को अपनी ओर खींच लेता है। उस प्राचीन युग में लोगों ने सहज ही स्वीकार कर लिया कि ऐम्बर में कोई दैवी शक्ति मौजूद है, जिसके कारण यह इस प्रकार के आकर्षण की शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है। इसी लिए वे आभूषणों में ऐम्बर का प्रयोग करने लग गए थे। ऐम्बर के इस गुण विशेष को वे 'एलेक्ट्रीसीटी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि ऐम्बर का यूनानी नाम 'एलेक्ट्रान' था। हिन्दी में इसी गुण को 'विद्युत्' का नाम दिया गया है।

यद्यपि उस सुदूर अतीत में ही विद्युत् के विकास का प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु सैकड़ों वर्ष तक इस क्षेत्र में कुछ विशेष प्रगति न हो सकी। १६वीं शताब्दी में डा० गिल्बर्ट नामक एक अंग्रेज़ वैज्ञानिक ने इस समस्या में विशेष दिलचस्पी दिखाई। उसने प्रयोगों के सिलसिले में देखा कि घर्षण द्वारा आकर्षण की शक्ति का समावेश न केवल ऐम्बर बल्कि गन्धक, काँच, लाख, चपड़ा तथा हीरे में भी किया जा सकता है। अतः इस गुण को 'घर्षण-विद्युत्' का
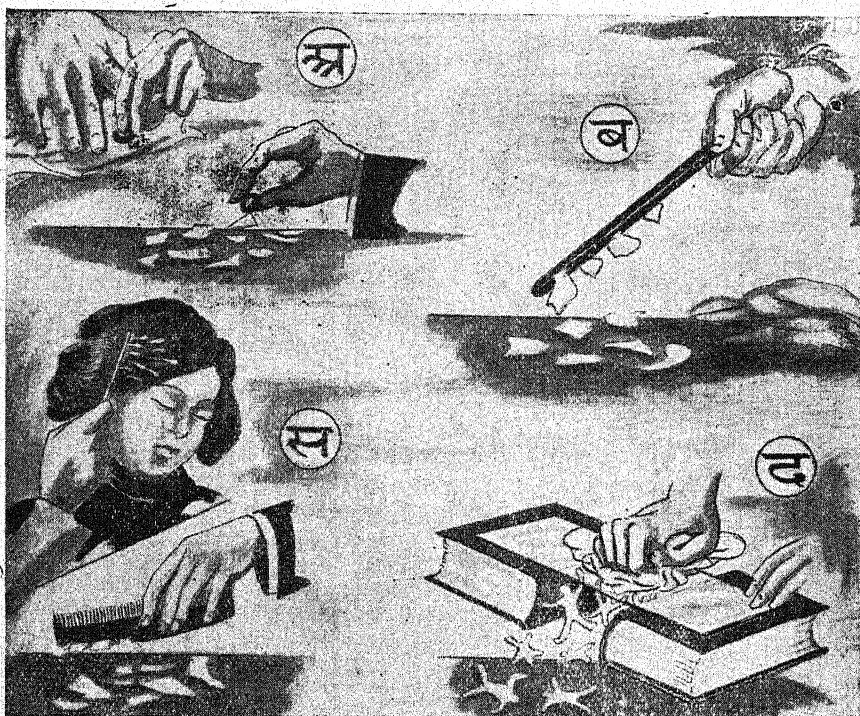
(अ) ऐम्बर के टुकड़े को ऊन से रगड़ने पर वह नन्हें काग़ज़ के टुकड़ों को अपनी ओर खींचने लगता है; (ब) आबनूस या काँच का डंडा भी क्रमशः रेशम या फलालैन से रगड़ने पर इसी प्रकार विद्युत् से आविष्ट किया जा सकता है; (स) मसाले के कंघे को सूखे बालों में फेरने से भी इसी प्रकार बिजली पैदा हो जाती है; (द) इस प्रकार एक शीशे की प्लेट को आड़ी रखकर ऊपर रेशम से रगड़ने पर उसके नीचे रक्खे हुए काग़ज़ के हल्के पुतले आप ही आप नाचने लगते हैं! ये सभी घर्षण-विद्युत् के ही चमत्कार हैं।

नाम दिया गया। डा० गिल्बर्ट की गणना तत्कालीन चोटी के वैज्ञानिकों में हुआ करती थी, इसीलिए इनके अनुसन्धानों की चर्चा शीघ्र ही समस्त योरप में फैल गई और भिन्न-भिन्न देशों में वैज्ञानिक इस क्षेत्र में तरह-तरह के अनुसन्धान करने लगे।

स्वयं आप भी घर्षण-विद्युत् के सम्बन्ध में तरह-तरह के दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। अपनी फाउन्टेन-पेन को ऊनी कोट की आस्तीन पर थोड़ी देर तक रगड़िए—आपकी फाउण्टेन-पेन काग़ज़ के टुकड़ों को मेज़ पर से उठा लेगी। देहात में लड़के अपने सिर के सूखे बालों पर सरकंडे को रगड़कर सरकंडे में घर्षण-विद्युत् पैदा कर लेते हैं। सरकंडे का टुकड़ा नन्हें-नन्हें तिनकों को उठा लेता है। रात के अँधेरे में दर्पण के सामने यदि आप मसाले के कंघे को अपने सिर के सूखे बालों में कई बार फेरें तो दर्पण में आपको बाल और कंघे के स्पर्श से चिनगारियाँ उत्पन्न होती दिखलाई देंगी। इसका भी कारण कंघे की घर्षण-विद्युत् ही है। काँच के गिलास को रेशमी रूमाल से रगड़िए और तब कुछ मुलायम पंख गिलास के समीप ले जाइए—पंख के बाल गिलास द्वारा आकृष्ट हो जायँगे। अपनी पालतू बिल्ली को हाथ से सहलाइए। आप देखेंगे कि उसकी पीठ के बाल आपके हाथ द्वारा आकर्षित होकर खड़े हो जाते हैं। लाख को फलालैन के टुकड़े से रगड़िए, फिर उसे अपने सिर के बाल के ऊपर ले जाइए—लाख की विद्युत् सिर के बालों को ऊपर खींचे लेती है।
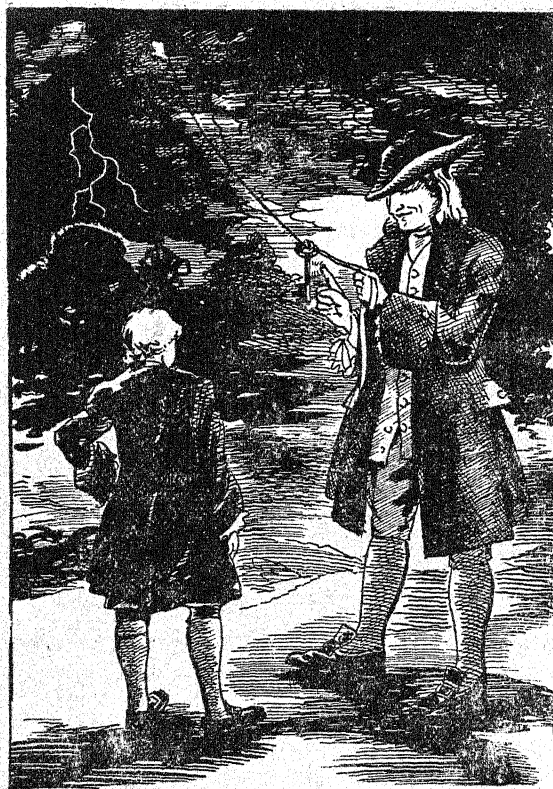
आकाश में कौंधनेवाली विद्युत् भी प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई विद्युत् जैसी ही होती है, इसे सिद्ध करने के लिए बैंजेमिन फ्रैन्कलिन ने पतंग उड़ाकर एक प्रयोग किया था। व्याख्या के लिए पढ़िए पृ० २७४८ का मैटर।

फ्रैन्कलिन के उपर्युक्त प्रयोग के बाद एक फ्रैन्च विद्वान् डा० रोमास ने भी इसी तरह पतंग उड़ाकर एक प्रयोग किया था। उसके फलस्वरूप ज़ोर के धड़ाके के साथ पतंग की कील द्वारा ज़मीन में एक गड्ढा बन गया था और तार छू जाने से एक व्यक्ति को ज़ोर का धक्का भी लगा था। इसका विस्तृत विवरण पृ० २७४८ पर पढ़िए।

इस सिलसिले के प्रयोगों में यह भी देखा गया कि घर्षण-विद्युत् में केवल आकर्षण ही नहीं, वरन् विकर्षण का गुण भी मौजूद है। यदि शीशे की छड़ को हम रेशम से रगड़ें और उसे रेशमी धागे के सहारे आड़ी लटका दें, और रेशम से रगड़ी हुई दूसरी शीशे की छड़ उसके समीप ले आएँ तो हम देखेंगे कि लटकी हुई छड़ दूर हट जाती है—अर्थात् दोनों छड़ों में विकर्षण (हटाव) होता है। स्पष्ट है कि दोनों छड़ों पर समान जाति की ही विद्युत् उत्पन्न हुई होगी और ऐसी समान विद्यु त् में परस्पर विकर्षण होता है।

इसके प्रतिकूल यदि हम आबनूस के एक छड़ को फलालैन से रगड़कर उसी प्रकार रेशम के धागे के सहारे लटकाएँ और तब उसके समीप रेशम
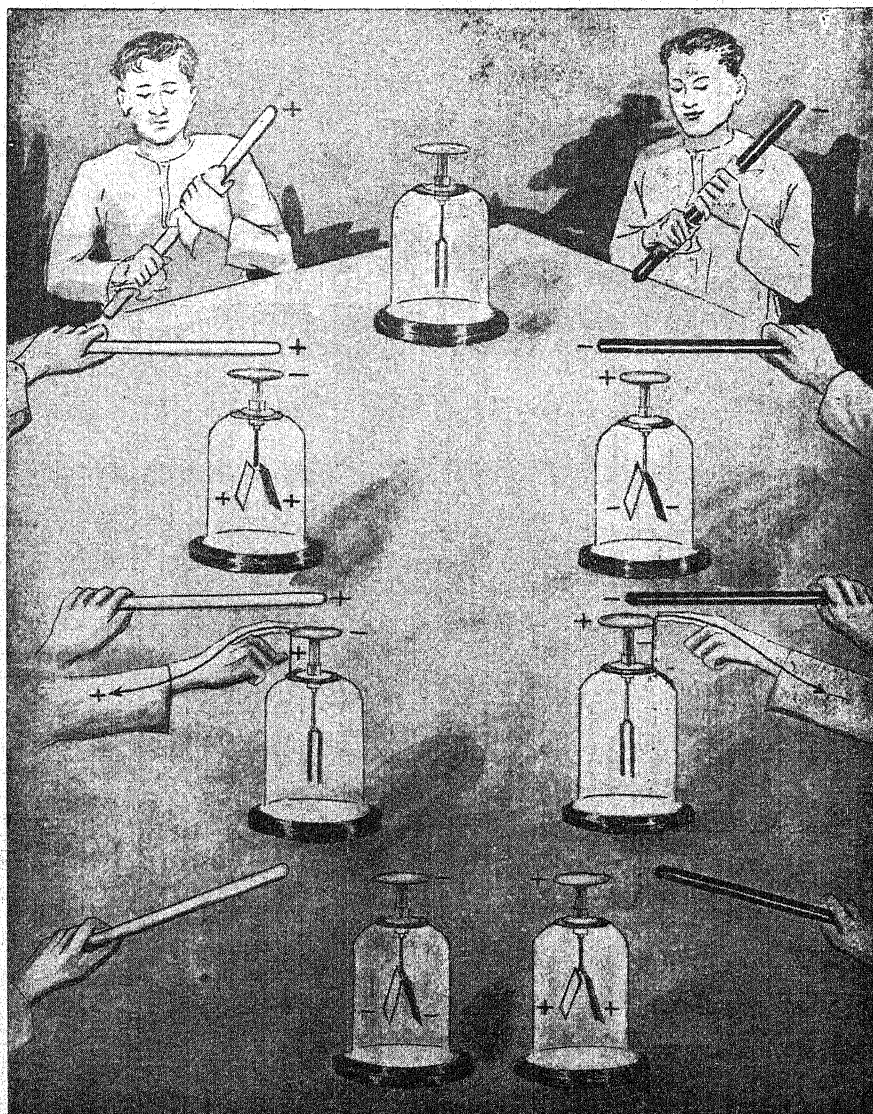
स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप और उसे विद्युताविष्ट करने की क्रिया

प्रस्तुत चित्र में 'स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप' नामक महत्त्वपूर्ण यंत्र और उसे क्रमशः ऋणात्मक अथवा धनात्मक विद्युत् से आविष्ट करने की प्रक्रियाएँ दिग्दर्शित की गई हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में यह यंत्र अपनी अक्रियाशील दशा में दिखाया गया है। बाईं ओर दिखाया गया है कि किस प्रकार रेशम द्वारा रगड़कर धनात्मक विद्युत् से आविष्ट किए गए काँच के एक डंडे को इस यंत्र के समीप लाने पर उसके सिरे में ऋणात्मक और पत्तियों में धनात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। इसीलिए उसकी पत्तियाँ विकर्षित हो फैल जाती हैं। अब यदि यंत्र के सिरे को हाथ से छू लिया जाय तो धनात्मक विद्युत् शरीर में होकर धरती में चली जायगी और पत्तियाँ सिमट जाएँगी। तदनंतर ऊँगली और डंडा दोनों को हटा लेने पर एलेक्ट्रोस्कोप में सिरे से पत्तियों तक ऋणात्मक विद्युत् ही रह जायगी और पत्तियाँ पुनः विकर्षित हो फैल जाएँगी। दाहिनी ओर ठीक इसी प्रकार फलालैन द्वारा रगड़कर ऋणात्मक विद्युत् से आविष्ट किए गए आबनूस के डंडे को समीप लाकर इस यंत्र को किस प्रकार धनात्मक विद्युत् से आविष्ट किया जा सकता है, इसकी क्रिया दिखाई गई है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप भी अंत में एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियाँ विकर्षित होते दिखाई देंगी, परन्तु इस बार वे आविष्ट होंगी धनात्मक विद्यु त् द्वारा।

से रगड़कर शीशे की छड़ लाएँ तो इन दोनों में आकर्षण उत्पन्न होता है। और भी देखिए—फलालैन से रगड़ी हुई आबनूस की छड़ को लटकाकर उसके समीप यदि फलालैन की रगड़ी हुई आबनूस की छड़ ले आएँ तो इस बार भी विकर्षण ही पैदा होता है। इन तीनों प्रयोगों से सिद्ध होता है कि समान जाति की विद्युत् में परस्पर विकर्षण होता है किन्तु असमान जाति की विद्युत् में आकर्षण। अतः घर्षण विद्युत् की दो जातियाँ हुईं; एक वह जो शीशे को रेशम से रगड़ने से उत्पन्न होती और इस प्रकार उत्पन्न विद्युत् से विकर्षित होती है तथा दूसरी वह जो फलालैन द्वारा आबनूस पर रगड़ने से उत्पन्न होती है अथवा आबनूस पर उत्पन्न हुई विद्युत् से विकर्षित होती है।

काफ़ी दिनों बाद अमेरिका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक बेन्जमिन फ्रैन्कलिन ने शीशेवाली विद्युत् को धनात्मक घर्षण-विद्युत् का नाम दिया और आबनूसवाली को ऋणात्मक विद्युत् का नाम। क्यों ये नाम चुने गए, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

घर्षण-विद्युत् की इस विवेचना ने एक और पहेली को भी सुलझाया। घर्षण के प्रयोगों में यह देखा गया था कि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़ने पर यह छड़ जब काग़ज़ के टुकड़ों के पास ले आयी जाती है तो काग़ज़ के टुकड़े इससे आकर्षित होकर छड़ में जा चिपकते हैं, किन्तु एकाध क्षण बाद ही वे गिर पड़ते हैं। छड़ की विद्युत् अभी उसमें मौजूद ही रहती है, क्योंकि छड़ काग़ज़ के और टुकड़ों को आकर्षित करने में समर्थ होता है। फिर क्या कारण है कि ये काग़ज़ के टुकड़े छड़ से चिपकने पर अलग हो गए? उपर्युक्त व्याख्या इस प्रश्न पर समुचित प्रकाश डालती है। काग़ज़ के टुकड़े छड़ को स्पर्श करने पर छड़ की विद्युत् ग्रहण कर लेते हैं। अतः छड़ की तरह ही ये भी ऋणात्मक विद्युत्मय हो जाते हैं। अब समान जाति की विद्युत् काग़ज़ और छड़ दोनों पर विद्यमान है। अतः दोनों में विकर्षण होता है और काग़ज़ दूर हटकर गिर जाता है। शीशे की छड़ से प्रयोग करने पर भी यही बात देखने में आती है—काग़ज़ के टुकड़े आकर्षित होकर छड़ से चिपक जाते हैं, किन्तु तत्काल ही ये पुनः नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि इनमें भी शीशे की छड़वाली धनात्मक विद्युत् का समावेश हो जाता है।
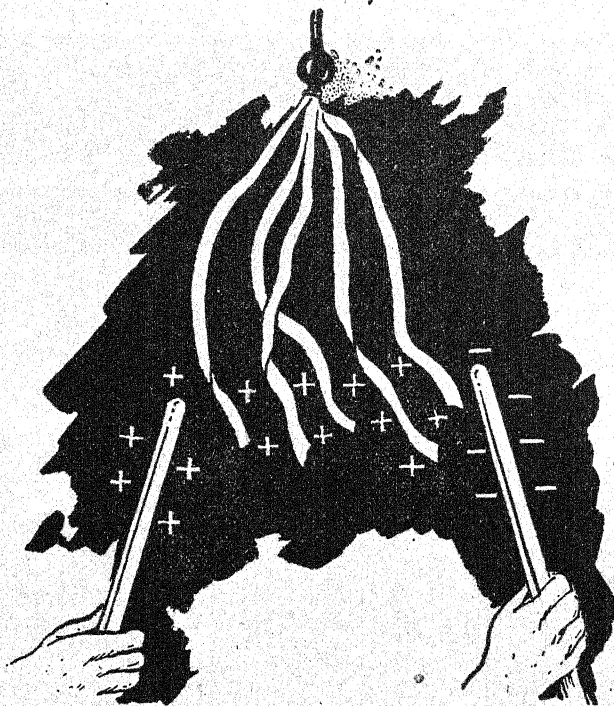
काग़ज़ के एक तख़्ते को ब्रुश से रगड़कर रेशम के धागे द्वारा लटकाया जाय तो वह धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हो जायगा। अब उसे धज्जियों में विभाजित कर दीजिये। उनमें विकर्षण होगा, क्योंकि वे सभी समान धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हैं। इन धज्जियों के पास धनात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर वे विकर्षित होंगी और ऋणात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर आकर्षित।

समान जाति की विद्युत् के विकर्षण तथा असमान विद्युत् के पारस्परिक आकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए सरकण्डे के गूदे की गोलियों द्वारा एक रोचक प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रदर्शन के लिए सरकण्डे के गूदे को सुखाकर उसकी दो गोलियाँ बना लीजिए। इन्हें रेशम के धागों से एक इंच की दूरी पर लटका दीजिए—अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उस छड़ को एक गोली से छुला दीजिए। फ़ौरन् ही दोनों गोलियाँ आकर्षित होकर एक दूसरे को छू लेती हैं, किन्तु तत्काल ही वे अलग भी हो जाती हैं, क्योंकि स्पर्श के बाद दूसरी गोली से भी ऋणात्मक विद्युत् चली जाती है। इसी तरह एक और प्रयोग कीजिए—इस बार दोनों गोलियों को रगड़ी हुई आबनूस की छड़ से छुला दीजिए। आप देखेंगे कि अब दोनों गोलियाँ एक दूसरे से दूर हट जायँगी, क्योंकि प्रारम्भ से ही समान विद्युत् दोनों में मौजूद है। अतः उनमें विकर्षण हो रहा है।

घर्षण-विद्युत् के आकर्षण-विकर्षण के गुणों की परीक्षा

करने के सिलसिले में वान गेरिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि उसने घर्षण-विद्युत् अधिक परिमाण में उत्पन्न करने के लिए एक मशीन का निर्माण किया। इस सीधी-सादी मशीन में गन्धक के एक बड़े टुकड़े को छुरी पर आरूढ़ कराकर धुरी को हैन्डल के सहारे तेज़ी के साथ घुमाते थे तथा हथेली को गन्धक पर रखते थे। तेज़ घर्षण के कारण गन्धक पर काफ़ी ऋणात्मक विद्युत् उत्पन्न हो जाती थी।

इस क्षेत्र में किए गए अनुसन्धानों के सिलसिले में यह भी मालूम किया गया कि पीतल या ताँबे अथवा लोहे की छड़ को हाथ में पकड़कर यदि उसे रगड़ा जाय तो उसमें किसी प्रकार की विद्युत् का समावेश नहीं हो पाता। अवश्य लोगों को अचरज हुआ कि ऐसा क्यों होता है। इस उधेड़बुन में कुछ अनुसन्धानकों ने पीतल या धातु की एक छड़ ऐसी तैयार की, जिसका हैन्डल काँच का बना था। अब देखा गया कि काँच के हैन्डल को हाथ में पकड़कर यदि धातु की छड़ को रगड़ा जाय तो धातु की छड़ में भी विद्युत् उत्पन्न हो जाती है और यह अन्य चीज़ों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। अतः यह सिद्ध हो गया कि धातुएँ भी घर्षण द्वारा विद्युत्मय बनायी जा सकती हैं—केवल यह अवश्य है कि उनकी विद्युत् उनके अन्दर से भाग जाती है। यदि काँच या आबनूस का हैन्डल धातु की छड़ में लगा दिया जाय तो धातु की विद्युत् भाग सकने में समर्थ नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सभी पदार्थों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—एक वे पदार्थ, जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो सकता। गन्धक, शीशा, आबनूस, ऐम्बर इस श्रेणी में आते हैं। इन्हें हम विद्युत् के 'अधम संचालक' कह सकते हैं। दूसरे वे पदार्थ जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह आसानी के साथ हो सकता है—ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी आदि इस श्रेणी में आते हैं। इन्हें हम विद्युत् के 'उत्तम संचालक' कह सकते हैं। हमारा शरीर भी मध्यम श्रेणी का विद्युत् संचालक है। यही कारण है कि फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर यदि छड़ पर हम हाथ फेर दें तो छड़ की विद्युत्शक्ति हमारे शरीर में से प्रवाहित होकर धरती में चली जाती है और छड़ विद्युत्हीन हो जाती है। आर्द्रता भी विद्युत् की संचालक है। इसलिए घर्षण-विद्युत् के प्रयोग के पहले सभी चीज़ों को भली भाँति सुखा लेना चाहिए, अन्यथा उन वस्तुओं पर घर्षण के उपरान्त विद्युत् ठहरेगी नहीं। रेशम अधम संचालक है, इसी कारण घर्षण-विद्युत् के प्रयोग में आकर्षण-विकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए छड़ आदि को रेशम के धागे से ही लटकाते हैं। सूत में यह गुण मौजूद नहीं है।
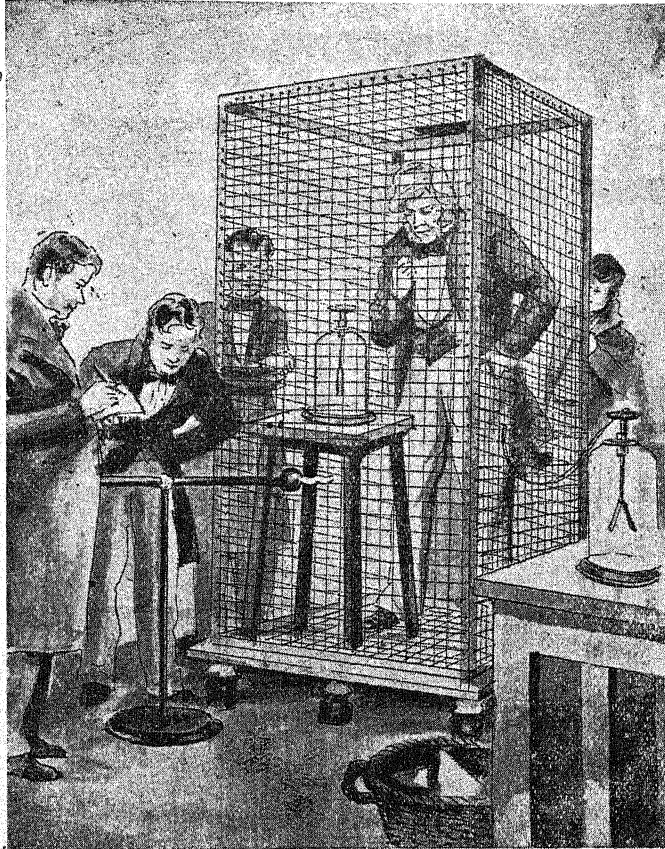
धातु के आवरण से किसी वस्तु को घेरने पर बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर नहीं पड़ सकता। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए फैरेडे ने जो प्रयोग किया था, वही यहाँ दिग्दर्शित है। व्याख्या के लिए पृ० २७४६ का मैटर पढ़िए।

अनुसन्धानकों ने अब एक और महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने फलालैन की खोलनुमा टोपी बनाकर उससे आबनूस को रगड़ा और सरकण्डे के गूदे को लटकाकर उसे रेशम से रगड़े हुए काँच के डण्डे से छुलाया। सरकण्डे की गोली में अब धनात्मक विद्युत् आ गई। तदुपरान्त फलालैन की उस टोपी को जब इस सरकण्डे की गोली के पास

ले आया गया तो इन दोनों में विकर्षण हुआ। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि फलालैन की टोपी में धनात्मक विद्युत् उस समय उत्पन्न हुई जबकि आबनूस में ऋणात्मक उत्पन्न हुई थी। इसी तरह यह भी सिद्ध किया जा सका कि काँच और रेशम के परस्पर घर्षण से काँच में तो धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है, किन्तु साथ ही साथ रेशम में ऋणात्मक विद्युत् की उत्पत्ति होती है। फिर तो शीघ्र ही यह दिखलाया जा सका कि जब दो विभिन्न पदार्थों में घर्षण होता है तो साथ ही एक पदार्थ में धनात्मक और दूसरे पदार्थ में ऋणात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। आगे हम देखेंगे कि ऐसी दशा में ये दोनों जाति की विद्युत् समान मात्रा में उत्पन्न होती हैं।
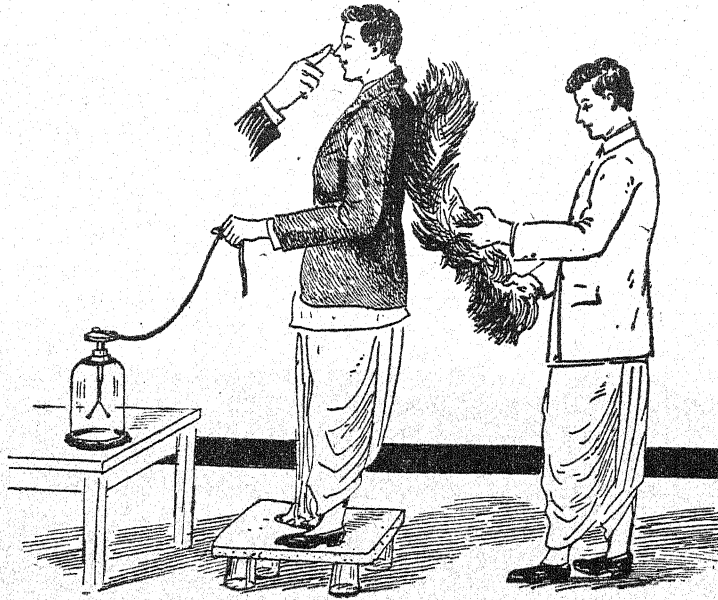
ऊनी वस्त्र पहने किसी व्यक्ति को शीशे की चौकी पर खड़ा कर यदि उसके कोट को समूर से रगड़ा जाय तो वह व्यक्ति घर्षण-विद्युत् से आविष्ट हो जायगा, जिसका पता उसके हाथ में स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप से संलग्न एक रेशम की डोरी देकर लगाया जा सकता है। ऐसे विद्युताविष्ट व्यक्ति की नाक के पास अन्य कोई व्यक्ति अपनी उँगली ले जाय तो विद्युत् की हल्की-सी चिनगारी प्रकट होते देखी जा सकती है!
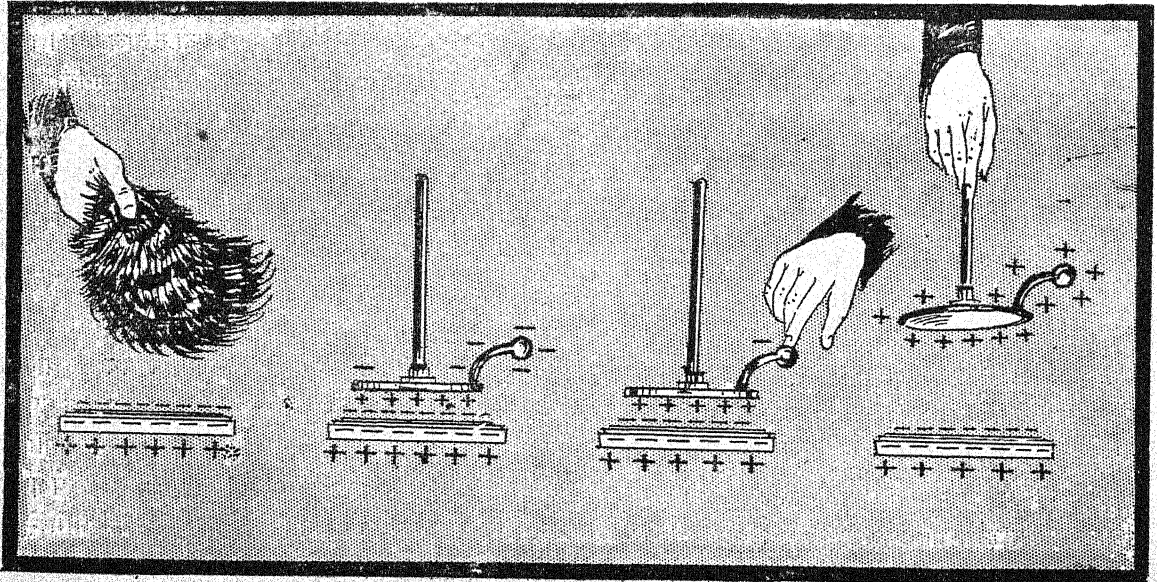
प्रस्तुत चित्र में एलेक्ट्रोफोरस नामक विद्युतोत्पादक सरल यंत्र और उसकी क्रिया दिग्दर्शित है। इस यंत्र में चपड़े की एक गोल प्लेट पर धातु की एक गोल प्लेट रखी रहती है, जिसमें काँच का हैण्डल लगा होता है। विद्युत् उत्पन्न करने के लिए ऊपरी प्लेट को अलग हटाकर फलालैन या समूर से चपड़े को रगड़ते हैं, जिससे उसमें ऋणात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। अब पुनः ऊपरी प्लेट को चपड़े पर रख देते हैं, जिससे फ़ौरन् ही प्लेट के निचले भाग में धनात्मक और ऊपरी सतह पर ऋणात्मक विद्युत् आ जाती है। तदनंतर धातु की प्लेट को हाथ से छू देते हैं, जिससे स्वतंत्र ऋणात्मक विद्युत् शरीर में होकर धरती में चली जाती है और यंत्र धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हो जाता है।

घर्षण-विद्युत् के सम्बन्ध में जानकारी बढ़ने के साथ ही यह स्वाभाविक था कि लोग यह जानने के लिए उत्सुक हों कि आखिर विद्युत्मय पदार्थ को जब अन्य पदार्थों के समीप ले जाते हैं, जिनमें विद्युत् नहीं है, तो उनके बीच आकर्षण क्यों होता है। इस प्रश्न का उत्तर वान गेरिक ने अपनी घर्षण-मशीन द्वारा प्रयोग करके मालूम किया था। उसने देखा कि नन्हीं-नन्हीं वस्तुएँ जब विद्युत्मय गन्धक के टुकड़े के समीप लायी जाती थीं तो उनमें स्वयं विद्युत् का समावेश हो जाता था। निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति की विद्युत उत्पन्न होती है और दूरवाले भाग में समान जाति की। यही वजह है कि प्रतिकूल ढंग की विद्युत् के आकर्षण से वह वस्तु खिंच आती है।

विद्युत्मय वस्तु से बिना छुलाए हुए जब किसी वस्तु में विद्युत् का आविर्भाव केवल उन दोनों को निकट ले आने से ही हो जाता है तो इस क्रिया को 'उपपादन' कहते हैं। इस क्रिया को समझने के लिए निम्न प्रयोग किया जा सकता है:—पीतल का एक बेलनाकार पिण्ड काँच के स्टैण्ड पर आरूढ़ किया जाता है। अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उसे पीतल के पिण्ड के एक सिरे के समीप ले आते हैं। सरकण्डे की गोली पर ऋणात्मक विद्युत् चढ़ाकर उसे पिण्ड के दूरवाले सिरे के नज़दीक ले आने पर विकर्षण होता है। इससे स्पष्ट है कि पिण्ड के दूरवाले भाग में ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है। छड़ के हटा लेने पर पिण्ड की यह विद्युत्शक्ति भी लुप्त हो जाती है। उपपादन द्वारा उत्पन्न हुई विद्युत् उतनी ही देर तक स्थिर रहती है, जितनी देर तक निकट में कोई विद्युत्मय पदार्थ रहता है।

लेकिन ऐसा होता क्यों है? उपर्युक्त प्रयोग में यदि आबनूस की छड़ को पीतल के पिण्ड के निकट रखकर पिण्ड को हाथ से छू दें तो अब इससे सरकण्डे की ऋणात्मक विद्युत्वाली गोली प्रभावित नहीं होती। किन्तु इसके बाद छड़ हटा लेने पर यही पिण्ड धनात्मक विद्युत्वाली सरकण्डे की गोली के प्रति विकर्षण और ऋणात्मक के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन करता है। स्पष्ट है कि अब यह स्वयं धनात्मक विद्युत्मय हो गया है।

उपपादन की क्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए कल्पना कीजिए कि प्रत्येक पदार्थ नन्हे-नन्हे धनात्मक और
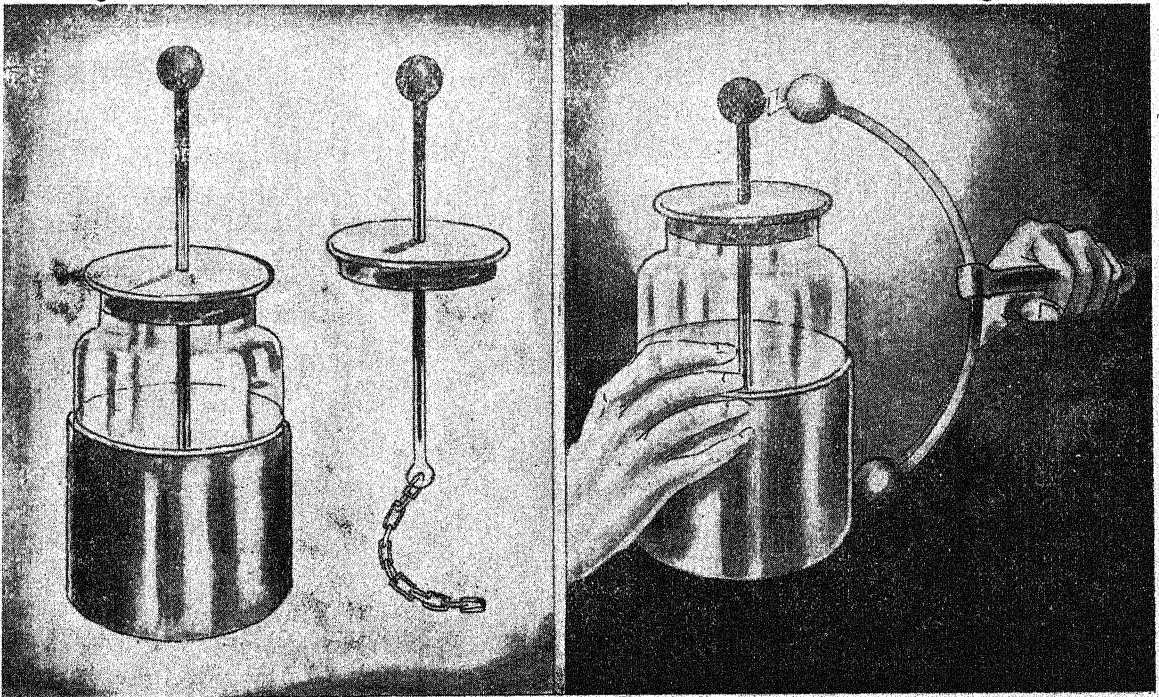
विद्युत् का संचय करने के लिए काम में लाया जाने वाला 'लीडन जार' नामक पात्र

बाईं ओर इस बोतलनुमा पात्र की रचना, उसके ऊपरी ढक्कन को अलग से दिखाकर, प्रदर्शित की गई है; दाहिनी ओर एक चिमटानुमा उपकरण द्वारा उसकी घुण्डी और बाहर की सतह की टिन को एक-दूसरे से संबद्ध करने पर विद्युत् चिनगारी पैदा होते दिखाई गई है। व्याख्या के लिए पढ़िए पृ० २७४८ का मैटर।

ऋणात्मक विद्युत्-कणों से मिलकर बना है। इन कणों की संख्या धनात्मक और ऋणात्मक दोनों तरह की बराबर होती है, इसीलिए साधारणतः पदार्थों में उनके विद्युत्गुण प्रदर्शित नहीं होते। यदि कोई विद्युत्मय पदार्थ निकट आता है तो वह प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कणों को आकर्षित करके अपने निकटवाले सिरे पर एकत्रित कर लेता है, और अपनी जाति के विद्युत्-कणों को दूरवाले सिरे पर हटा देता है। प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण उसके आकर्षण से एक तरह बँधे रहते हैं, किन्तु उसी जाति के कण स्वतंत्र रहते हैं। अतः इस अवस्था में पिण्ड उसी जाति के विद्युत् का प्रभाव दिखलाता है। हाथ से छू लेने पर अनुकूल जाति के ये स्वतंत्र विद्युत्-कण हाथ और शरीर में से होते हुए धरती में चले जाते हैं। अब यदि आबनूस के ऋणात्मक विद्युत्मय डंडे को हटा लें, तो पिण्ड के बँधे हुए धनात्मक विद्युत्कण स्वतंत्र होकर पिण्ड पर फैल जाते हैं, और पिण्ड धनात्मक विद्युत् का प्रभाव दिखलाता है, क्योंकि अब इनके प्रभाव को नष्ट करनेवाले ऋणात्मक विद्युत्-कण पिण्ड में नहीं रहे।

इसी प्रकार जब दो पदार्थों में परस्पर घर्षण होता है तो एक से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकलकर दूसरे में चले जाते हैं। अतः जिसमें से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकल जाते हैं, वह धनात्मक विद्युत् के गुण का प्रदर्शन करता है और दूसरे पदार्थ में ऋणात्मक विद्युत्कण के बढ़ जाने से ऋणात्मक विद्युत् का प्रभाव प्रकट होता है। यही कारण है कि फलालैन और आबनूस जब एक दूसरे से रगड़े जाते हैं तो फलालैन में धनात्मक और आबनूस में ऋणात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है। काँच की छड़ को रेशम से रगड़ने पर काँच में धनात्मक और रेशम में ऋणात्मक बिजली पैदा होती है।

महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक फ़ैरेडे
जिसका नाम विद्युत्-अनुसंधानों के सिलसिले में अमर रहेगा।

अब हम इस प्रश्न का भी उत्तर दे सकते हैं कि विद्युत्मय पदार्थ के निकट लाने पर नन्हें-नन्हें काग़ज़ के टुकड़े या तिनके आदि क्यों पहले खिंचकर उस पदार्थ से चिपक जाते हैं और फिर जल्दी ही अलग हो जाते हैं? विद्युत्मय पदार्थ के निकट जब कोई चीज़ लायी जाती है तो उपपादन द्वारा उस चीज़ के निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण इकट्ठे हो जाते हैं और दूरवाले सिरे पर अनुकूल जाति के। चूँकि निकट प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण हैं, इसलिए दोनों पदार्थों के बीच आकर्षण होता है। किन्तु इस आकर्षण-शक्ति के कारण खिंचकर जब वह नन्हीं चीज़ विद्युत्मय पदार्थ को छू लेती है तो विद्युत्मय पदार्थ से उस चीज़ में समान जाति के कुछ विद्युत्-कण चले जाते हैं। समान जाति की विद्युत् में विकर्षण भी होना आवश्यक है, अतः अब इन दोनों के बीच विकर्षण होता है और वह चीज़ दूर या अलग हो जाती है।

यह ज्ञात करने के लिए कि किसी पदार्थ में विद्युत् है या नहीं और है तो किस जाति की, अर्थात् ऋणात्मक या धनात्मक है, साधारणतः एक ख़ास ढंग के यंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह 'स्वर्णपत्र एलेक्ट्रोस्कोप' कहलाता है। इस यंत्र में चौड़े मुँह की काँच की बोतल में सोने की दो पत्तियाँ पीतल की छड़ के निचले छोर से लटकती हैं। इस छड़ का दूसरा सिरा चपटा रहता है, जो कि बोतल के बाहर निकला होता है। बोतल के अन्दर पत्तियाँ इसलिए लटकायी जाती हैं कि हवा का झोंका उन्हें न लग पाए। जिस वस्तु की जाँच करनी हो उसे एलेक्ट्रोस्कोप की छड़ के ऊपरी सिरे से छुला देते हैं—यदि उस वस्तु में विद्युत् मौजूद हुई तो उसका कुछ अंश छड़ में से होकर दोनों पत्तियों में चला जाता है। समान जाति की विद्युत् दोनों पत्तियों में चली जाती है,

अतः उनमें विकर्षण होता है और वे दोनों एक दूसरे से दूर हटकर चौड़ी हो जाती हैं। यदि उस वस्तु में बिजली मौजूद न हुई तो पत्तियाँ पूर्ववत् अवस्था में ही लटकती रहती हैं, उनमें विकर्षण नहीं होता।

विद्युत्मय वस्तु को यदि एलेक्ट्रोस्कोप की छड़ से हम छुआएँ नहीं, केवल उसे छड़ के सिरे के निकट लेभर आएँ, तो भी पत्तियों में विकर्षण होगा, क्योंकि उपपादन के द्वारा विरुद्ध जाति की विद्युत् निकटवाले सिरे पर उत्पन्न होगी और समान जाति की विद्युत दूर के सिरे में पत्तियों पर चली जायगी, अतः वे एक दूसरे से अलग हट जायँगी। किन्तु उस वस्तु को हटा लेने पर पत्तियाँ फिर इकट्ठा हो जायँगी।

यह मालूम करने के लिए कि किसी वस्तु में धनात्मक विद्युत् या ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है, यह आवश्यक है कि एलेक्ट्रोस्कोप पर किसी एक जाति की विद्युत् आरूढ़ करा ली जाय। मान लीजिए, आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़कर इससे एलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को छू दिया गया, तो पत्तियों में ऋणात्मक विद्युत् चली जायगी और वे फैल जायँगी। अब यदि धनात्मक विद्युत्मय वस्तु निकट लायी जाय तो वह उपपादन द्वारा पत्तियों में धनात्मक विद्युत् भेजेगी, अतः पत्तियों की पहले की ऋणात्मक विद्युत् का कुछ अंश धनात्मक विद्युत्
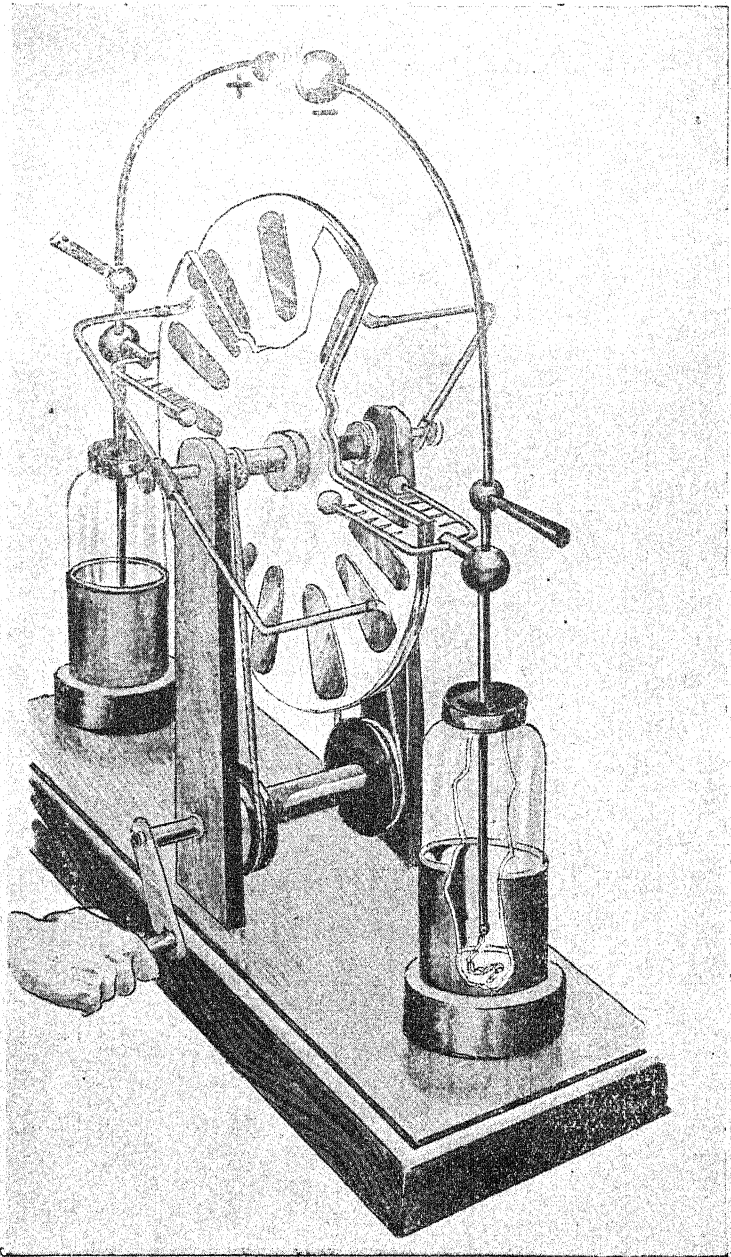
विमशर्स्ट मशीन

इस यंत्र का प्रयोग प्रयोगशालाओं में अधिक परिमाण में घर्षण-विद्युत् उत्पन्न करने के लिए होता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, इस मशीन में ऊर्ध्व धरातल में हैण्डिल द्वारा घुमाई जानेवाली काँच की दो वृत्ताकार प्लेटें लगी हैं, जिनकी बाहरी सतह पर समान दूरी पर धातु की कुछ पत्तियाँ चिपकाई हुई हैं। इसके अगल-बगल समकोण में दो पीतल की छड़ की भुजाएँ लगी हैं जिनके सिरे पर प्लेट को छूते हुए ब्रुशनुमा तार के गुच्छे लगे रहते हैं। साथ ही अगल-बगल धातु के दो विशेष प्रकार के कंघे भी लगे हैं, जिनके दाँत दोनों प्लेटों को बाहर से घेरे हुए हैं, परन्तु उसके फ्रेम को छू नहीं रहे हैं। ये कंघे एक-एक लीडन जार से संबद्ध हैं और उनसे दो टेढ़ी छड़ें ऊपर को जाकर दो गोल घुंडीनुमा सिरों के रूप में समाप्त होते दिखाई दे रही हैं। यह तो इस यंत्र की रचना हुई। इसका किस प्रकार उपयोग किया जाता है, इसका सुविस्तृत विवरण पृ० २७४८ के मैटर में पढ़िए!

के कारण नष्ट हो जायगा और फलस्वरूप पत्तियों के विकर्षण में कमी हो जायगी तथा वे पहले की अपेक्षा निकट आ जायँगी। इसके प्रतिकूल यदि ऋणात्मक विद्युत् वाली वस्तु निकट लायी जाय तो वह धनात्मक विद्युत् को निकट के सिरे पर इकट्ठा करेगी और ऋणात्मक विद्युत् को पत्तियों में भेजकर उनके पारस्परिक विकर्षण को और भी अधिक कर देगी, जिससे उनका फैलाव बढ़ जायगा।

एलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ़ कराने के निमित्त यह आवश्यक नहीं कि उसके छड़ के सिरे को किसी विद्युतमय पदार्थ से छुआया ही जाय। विद्युत्मय वस्तु को निकट लाकर केवल उपपादन द्वारा भी पत्तियों में प्रतिकूल जाति की विद्युत् आरूढ़ करायी जा सकती है। यह क्रिया पृ० २७३६ के चित्र में दिखलायी गयी है। काँच की छड़ को रेशम से रगड़ने पर उसमें धनात्मक विद्युत् आ गई है। इसे एलेक्ट्रोस्कोप के ऊपरी सिरे के निकट लाने पर उसके पीतल में ऋणात्मक विद्युत् उपपादन द्वारा आ जाती है और दूसरे सिरे पर पत्तियों में धनात्मक विद्युत् चली जाती है, जिससे कि वे फैल जाती हैं। अब उस काँच की छड़ को वहीं रखिए, और हाथ से एलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को छू दीजिए तो तुरन्त पत्तियों की धनात्मक विद्युत् आपके हाथ से होती हुई शरीर में से होकर धरती में चली जायगी, जबकि ऋणात्मक विद्युत् काँच की धनात्मक विद्युत् द्वारा आकृष्ट अवस्था में होने के कारण वहीं बँधी रह जायगी। इस हालत में पत्तियों का विकर्षण भी लुप्त हो जाता है और वे पूर्ववत् इकट्ठी लटकने लग जाती हैं। तब काँच की छड़ को वहीं रखे-रखे अपने हाथ को, जिससे आप पीतल की छड़ छू रहे थे, हटा लीजिए और तदनंतर काँच की छड़ को हटाइए। अब पीतल के ऊपरी सिरे की ऋणात्मक विद्युत् स्वतंत्र हो जाने के नाते नीचे तक आकर पत्तियों में प्रविष्ट हो जाती है और उनमें विकर्षण उत्पन्न करती है। इस प्रकार एलेक्ट्रोस्कोप पर ऋणात्मक विद्युत् आरूढ़ हो गई। यही क्रिया यदि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़कर की जाती है तो अन्त में एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों पर धनात्मक विद्युत् आरूढ़ हो जाती है। इस ढंग से एलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ़ कराने में लाभ यह है कि जिस वस्तु की सहायता से विद्युत् इसमें आरूढ़ करायी जाती है उसकी विद्युत् में ह्रास नहीं होने पाता।

एलेक्ट्रोस्कोप एक अत्यन्त ही चेतनशील यंत्र है। अतः इसके आविष्कार से घर्षण-विद्युत के गुणों की जाँच बारीकी से की जा सकी। इस सिलसिले में देखा गया कि धातु के खोखले बर्तनों पर जब विद्युत् उत्पन्न की जाती है तो वह विद्युत् पूर्णतया बाह्य धरातल पर ही स्थित होती है, भीतरी धारतल पर किसी भी मात्रा में वह मौजूद नहीं होती। पीतल की एक खोखली गेंद लीजिए और उसमें छोटी चवन्नी के बराबर एक सूराख़ कर दीजिए। तब काँच की सूखी मेज़ पर उसे रखकर उस पर ऋणात्मक विद्युत आरूढ़ करा दीजिए। अब काँच की पतली छड़ लेकर उसके एक सिरे पर छोटी दुअन्नी के बराबर पीतल का एक टुकड़ा मोम से चिपका लीजिए। तदनंतर विद्युत्मय गेंद के विभिन्न भागों से शीशे की छड़ के धातुवाले सिरे को छुलाकर उसमें आई हुई विद्युत् की जाँच एलेक्ट्रोस्कोप से कीजिए। आप पाएँगे कि गेंद के बाहरी धरातल पर हर कहीं ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है, किन्तु गेंद की भीतरी सतह के किसी भाग से भी विद्युत् प्राप्त नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि गेंद की भीतरी सतह पर विद्युत् मौजूद नहीं है। ब्रिटिश वैज्ञानिक फैरेडे ने इस तथ्य का प्रदर्शन निम्न रोमांचकारी प्रयोग द्वारा किया था।

उसने लोहे के तार का एक बड़ा पिंजड़ा तैयार किया और उसे काँच की एक चौकी पर रखकर वह स्वयं उसके अन्दर एलेक्ट्रोस्कोप को लेकर चला गया। बाहर से उसके मित्रों ने पिंजड़े पर इतनी अधिक विद्युत् आरूढ़ कराई कि आसानी से पिंजड़े से विद्युत्-चिनगारियाँ पैदा की जा सकती थीं। बाहर से पिंजड़े को छूना निरापद न था, किन्तु भीतर फैरेडे को कुछ मालूम न पड़ा और न अन्दर रखे हुए एलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों पर ही किसी प्रकार का प्रभाव पड़ा (दे० २७४१ का चित्र)। इस प्रयोग ने भली भाँति यह सिद्ध कर दिया कि धातु के आवरण से चारों ओर से किसी वस्तु को यदि घेर दिया जाय तो बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर की उस वस्तु पर किसी हालत में नहीं पड़ सकता। उदाहरण के लिए बारूदखाने के चारों ओर यदि तार की जाली का घेरा खड़ा कर दिया जाय तो आकाश की बिजली गिरने पर भी बारूदखाने पर कोई असर न पड़ेगा।

इन्हीं दिनों अधिक मात्रा में विद्युत् उत्पन्न करने के निमित्त मशीनें भी बनाई गईं। ये मशीनें उपपादन-क्रिया पर आश्रित थीं। इस ढंग की सबसे सीधी-सादी मशीन एलेक्ट्रोफ़ोरस है। इसका सर्वप्रथम निर्माण इटैलियन वैज्ञानिक वोल्टा ने सन् १७७५ में किया था। इसमें चपड़े की एक गोल चकरी धातु की एक प्लेट पर रक्खी होती है। इस चकरी पर पुनः धातु की

अन्य एक गोल प्लेट रक्खी रहती है, जिसका व्यास चपड़े के व्यास से थोड़ा कम ही होता है। धातु की इस प्लेट में काँच का हैन्डिल लगा होता है। विद्युत् उत्पन्न करने के लिए धातु की प्लेट को अलग हटाकर फलालैन या बिल्ली की खाल से चपड़े को रगड़ते और उस पर ऋणात्मक विद्युत् पैदा कर लेते हैं। अब धातु की प्लेट को चपड़े पर रख देते हैं—फ़ौरन् ही प्लेट के निचले भाग में धनात्मक विद्यु त् तथा ऊपरी सतह पर ऋणात्मक विद्युत् आ जाती है। अब धातु की प्लेट को हाथ से छू देते हैं, अतः स्वतन्त्र ऋणात्मक विद्युत् शरीर में से होकर धरती में चली जाती है। तब काँच का हैन्डिल पकड़कर धातु की प्लेट को उठा लेते हैं और जिस वस्तु पर विद्यु त् आरूढ़ कराना हुआ उससे इसे छुआ देते हैं। प्लेट को पुनः चपड़े पर रखकर पूर्ववत् उसमें धनात्मक विद्यु त् का समावेश कराकर इसे उसी वस्तु से छुआकर उसमें और भी अधिक विद्यु त् प्रविष्ट करा सकते हैं। यह क्रिया दुहराकर धीरे-धीरे करके ढेर-सी विद्यु त् उस वस्तु में प्रविष्ट करा देते हैं (दे० पृष्ठ २७४२ का चित्र)।

प्रयोगशालाओं में अत्यधिक परिमाण में विद्यु त् उत्पन्न करने के लिये विमशर्स्ट मशीन का प्रयोग होता है (दे० पृष्ठ २७४५ का चित्र)। इस मशीन में काँच को दो वृत्ताकार प्लेटें लगी होती हैं, जो ऊर्ध्व धरातल में प्रतिकूल दिशाओं में एक ही हैन्डिल द्वारा घुमायी जा सकती हैं। प्रत्येक प्लेट की बाहरी सतह पर समान दूरी पर धातु की पत्तियाँ चिपकाई हुई रहती हैं तथा दोनों ओर पीतल की छड़ की भुजाएँ लगी होती हैं, जिनके सिरों पर तार के गुच्छे होते हैं जो प्लेट को छूते रहते हैं। ये भुजाएँ लगभग एक दूसरे से समकोण बनाती हैं। बगल में दोनों ओर धातु के कंघे लगे होते हैं, जिनके दाँत दोनों प्लेटों को बाहर से घेरे रहते हैं। ये कंघे मशीन के ढाँचे को छूते नहीं हैं। प्रत्येक कंघा एक-एक लीडन-जार से सम्बद्ध रहता है तथा कंघों से ही धातु की दो टेढ़ी छड़ें ऊपर को जाती हैं, जहाँ उनके सिरे गोल घुण्डियाँ बन जाते हैं।
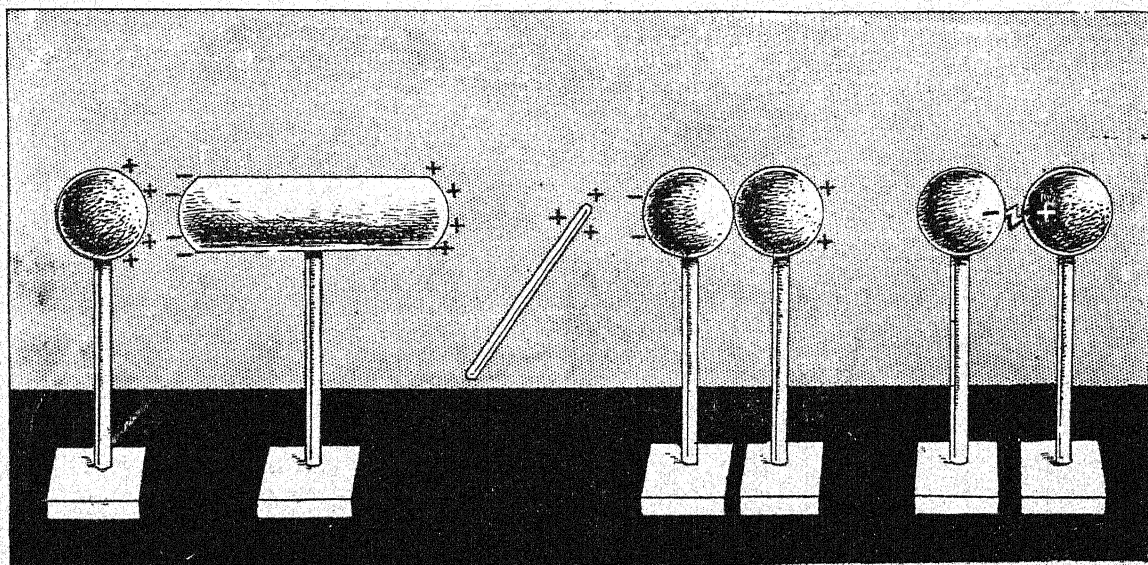
टिन से मढ़े लकड़ी के एक गेंदनुमा पिंड को मोम के एक चौकोर आधार पर खड़ा करके धनात्मक विद्यु त् से आविष्ट कर लीजिए और तब उसे इसी प्रकार के एक अन्य लंबाकार पिण्ड के समीप ले जाइए। आप देखेंगे कि बिना छुआए ही, केवल उपपादन की क्रिया द्वारा, यह दूसरा पिंड भी विद्यु तावेिष्ट हो जाता है—उसका निकट का सिरा विपरीत या ऋणात्मक विद्यु त् से और दूरस्थ सिरा समान या धनात्मक विद्यु त् से आरूढ़ हो जायगा। चित्र के बाएँ भाग में यही बात दिग्दर्शित की गई है। दाहिनी ओर यह दिखाया गया है कि यदि ऐसे दो पिंड एक-दूसरे से सटाकर रखे जाएँ और तब धन-विद्यु त् से आविष्ट काँच का एक डंडा उनमें से एक की बाजू के समीप लाया जाय तो वह बाजू तो ऋणात्मक विद्यु त् से, पर साथ ही इस युगल जोड़ी की दूसरी बाजू धनात्मक विद्युत् से आविष्ट पाई जाएगी। अब यदि डंडा हटा लिया जाय और सटे हुए दोनों पिंड एक-दूसरे से अलग कर लिए जाएँ तो एक पिंड ऋणात्मक विद्यु त् से युक्त पाया जायगा और दूसरा धनात्मक से। पुनः यदि ये दोनों पिंड एक-दूसरे के संस्पर्श में लाए जाएँगे तो उनके बीच एक चिनगारी पैदा होते देखी जायगी।

कल्पना कीजिए कि घर्षण के कारण सामनेवाली प्लेट की एक पत्ती पर थोड़ी धनात्मक विद्युत् मौजूद है। जब यह बाईं ओर घूमेगी, तब यह पिछली प्लेट की उस पत्ती के सामने आएगी जो कि पीछे की धातुवाली भुजा के गुच्छे के स्पर्श में है। अतः तुरन्त पीछे वाली प्लेट की इस पत्ती में उपपादन द्वारा ऋणात्मक विद्युत् का प्रवेश होगा और भुजा के दूसरे छोर के स्पर्श में आनेवाली पत्ती में धनात्मक विद्युत् प्रकट होगी। अब दोनों प्लेटें ज्यों-ज्यों घूमती हैं, बाएँ कंघे में धनात्मक विद्युत् इकट्ठी होती जाती है और दाहिने कंघे में ऋणात्मक विद्युत्।

फिर सामनेवाली भुजा का एक गुच्छा ऋणात्मक विद्युत् वाली पत्ती के सामने आता है और दूसरा गुच्छा धनात्मक वाली पत्ती के। ऊपर वाले गुच्छे के स्पर्श में आनेवाली पत्ती में धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है और नीचे वाले गुच्छे के स्पर्श में आने वाली पत्ती में ऋणात्मक विद्युत्। और ये ही धातु के कंघों द्वारा एकत्रित की जाती हैं। इस प्रकार जिस वक्त प्लेटें घूमती हैं, सामने वाली प्लेट के ऊपरी भाग की तमाम पत्तियों में और पीछेवाली प्लेट के निचले हिस्से की तमाम पत्तियों में धनात्मक विद्युत् रहती है और शेष पत्तियों में ऋणात्मक विद्युत्, जो दाहिने कंघे में एकत्रित होती है। कंघों से विद्युत् दोनों लीडन जारों में जाकर सञ्चित होती है। लीडन जार का गुण यह है कि ढेर-सी विद्युत् इसमें सञ्चित की जा सकती है। लीडन जार वास्तव में एक चौड़े मुँह की काँच की बोतल होती है, जिसकी दीवालों की बाहरी और भीतरी सतह पर टिन की पत्ती कुछ दूर तक चढ़ी होती है (दे० पृष्ठ २७४३ का चित्र)। उसके लकड़ी के ढक्कन में से पीतल की छड़ गुजरती है, जिसके निचले भाग से एक पीतल की ज़ंज़ीर लटकती रहती है और यह ज़ंज़ीर टिन की पत्ती को छूती है। लीडन जार में विद्युत् संचित करने के लिए इसकी पीतल की घुण्डी को तार द्वारा ह्विमशर्स्ट मशीन के कंघे से सम्बद्ध कर देते हैं और जार के बाहरी टिन की सतह को हाथ से पकड़े रहते हैं ताकि उसका सम्बन्ध धरती से हो जाय। विद्युत् भर जाने पर एक चिमटेनुमा यंत्र से लीडन जार की घुण्डी और बाहरी सतह की टिन को एक दूसरे से सम्बद्ध करने पर विद्युत चिनगारी और साथ ही कड़क की आवाज़ उत्पन्न होती है। लीडन जार की विद्युत् अब विनष्ट हो चुकी होती है।

ह्विमशर्स्ट मशीन में लीडन जार लगाने का तात्पर्य यह है कि मशीन की ऊपरवाली घुंडियों के बीच चिनगारी उस वक्त तक नहीं उत्पन्न होती जब तक कि दोनों ओर के लीडन जारों में पर्याप्त मात्रा में विद्युत् संकलित न हो जाय। यदि लीडन जार न लगाये जायँ तो मशीन की घुंडियों पर अधिक मात्रा में विद्युत् एकत्रित नहीं हो पाती, अतः चिनगारी भी लम्बी नहीं उत्पन्न होती।

ह्विमशर्स्ट मशीन द्वारा उत्पन्न विद्युत् चिनगारियों को देखकर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि आकाश में कौंधनेवाली विद्युत् भी क्या वास्तव में प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई विद्युत् सदृश ही है? सन् १७५२ में सुप्रसिद्ध अमेरिकन बेन्जेमिन फ्रैन्कलिन ने एक साहसपूर्ण प्रयोग इस सिलसिले में किया था। रेशम की पतंग बनाकर उसके सिरे पर पतले तार का छोटा टुकड़ा उसने लगा दिया और तब सूत की डोर में, जिसमें उसने पतंग बाँधा था निचले छोर पर उसने लोहे की एक चाभी बाँधी और वहाँ पर रेशमी फ़ीते को बाँधकर उस फ़ीते को हाथ में पकड़कर ऊँचे आकाश में उसने पतंग उड़ाया। उसने अपने इस प्रयोग के लिए ऐसा समय चुना जब कि आकाश में बिजली चमक रही थी। पानी बरस जाने पर जब डोर गीली हो गई तब चाभी के निकट उँगली ले जाने पर उसे एक ज़बर्दस्त झटका मिला और नन्हीं-सी चिनगारी उत्पन्न हुई (दे० पृष्ठ २७३८ का ऊपरी चित्र)। इस प्रयोग ने निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया कि आकाश की बिजली भी प्रयोगशाला की विद्युत् की तरह ही है।

इस नवीन अनुसन्धान से प्रभावित होकर दूसरे ही साल एक फ्रेंच विद्वान् डा० रोमास ने इसी तरह का एक और प्रयोग दुहराया, किन्तु उसकी पतंग का क्षेत्रफल काफ़ी ज़्यादा था तथा सूत की डोर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसने एक बारीक तार बट दिया था। अच्छे मौसम में जब कि न पानी बरस रहा था और न आकाश में बिजली ही चमक रही थी, उसने अपनी पतंग ऊँचे बादलों के बीच उड़ाई। लेकिन डोर को उसने लोहे की एक कील में बाँध दिया। थोड़ी देर में बड़े ज़ोर का धड़ाका हुआ, बिजली की चमक उत्पन्न हुई और कील के नीचे ज़मीन में एक सूराख बन गया। थोड़ी देर में पतंग ज़मीन पर गिरी तो जिस किसी ने डोर को छुआ उसे ही ज़बर्दस्त धक्का (शॉक) लगा (दे० पृष्ठ २७३८ का निचला चित्र)। डा० रोमास के इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि जिस वक़्त बिजली आसमान में नहीं भी चमकती होती है उस वक़्त भी बादल विद्युत्मय रहते हैं क्योंकि पतंग और उसकी डोर में बादलों में से ही विद्युत् का समावेश हुआ था।

जब कोयला जलता है

कार्बन के पूर्ण और अपूर्ण दहन द्वारा क्रमशः उत्पन्न होनेवाली कार्बन डाइऑक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों की कथा।

यह आपको बताया जा चुका है कि अन्य अनेक तत्वों की भाँति जब कोयला अथवा कार्बन का कोई अन्य रूप हवा अथवा ऑक्सिजन में जलता है तो वह अपनी ऑक्साइडों में परिवर्त्तित हो जाता है। ऑक्सिजन के पर्याप्त परिमाण में वह कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) गैस, और अपर्याप्त परिमाण में कार्बन मोनॉक्साइड (CO) गैस में परिणत होता है। कार्बन मोनॉक्साइड के अणु में ऑक्सिजन के एक और परमाणु से संयुक्त होने की क्षमता होती है, अतएव यह गैस प्रज्वलनशील होती है, और हवा अथवा ऑक्सिजन में जलकर डाइऑक्साइड में बदल जाती है। कार्बन मोनॉक्साइड गैस वास्तव में अधजला कोयला होती है। कार्बन डाइऑक्साइड गैस अदाह्य होती है, कारण उसमें कार्बन अपनी संयोजन-शक्ति भर ऑक्सिजन से संयुक्त हो चुकता है। इन तीनों रासायनिक क्रियाओं अर्थात् कार्बन से कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन से कार्बन मोनॉक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड से कार्बन डाइऑक्साइड के उत्पादनों में शक्ति का तापरूप में उद्भव होता है। इसी ताप को हम नाना प्रकार से प्रयुक्त करते हैं।

जब अँगीठी में कोयला जलता है तो, हलकी गर्म हवा के ऊपर उठते रहने के कारण, ताज़ी हवा नीचे के द्वार से उसमें प्रविष्ट होती रहती है। यह हवा जब सबसे नीचे वाले अंगारों के संसर्ग में आती है तो कार्बन डाइऑक्साइड गैस बनती है—

$$C+O_2 = CO_2$$

यह कार्बन डाइऑक्साइड ऊपर के अंगारों द्वारा कार्बन मोनॉक्साइड में अवकृत हो जाती है—

$$CO_2+C=2CO$$

और यह कार्बन मोनॉक्साइड ऊपर निकलकर जैसे ही हवा के संसर्ग में आती है, जलकर फिर कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत हो जाती है—

$$2C+O_2=2CO_2$$
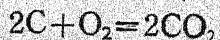
अँगीठी में अंगारों के ऊपर जो नीली ज्वालाएँ दिखाई
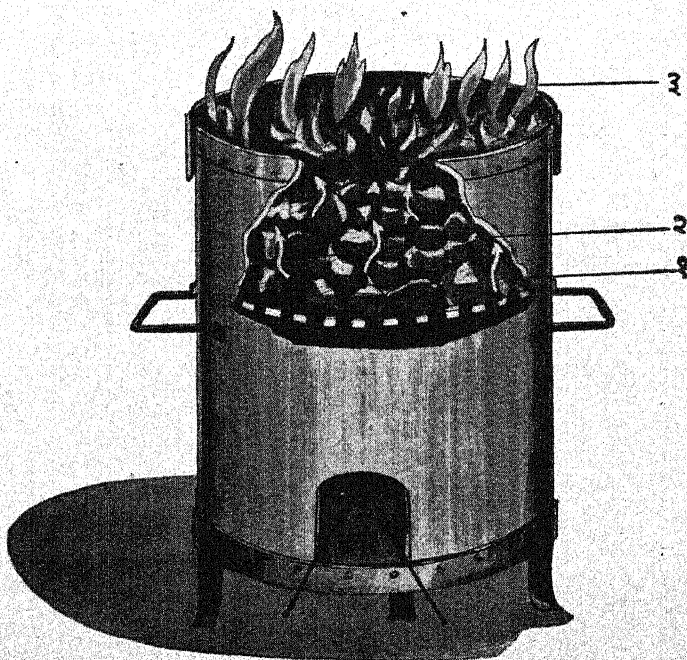
अँगीठी में कोयला कैसे जलता है

(१) कार्बन और ऑक्सिजन के संयोग से बनती हुई कार्बन डाइऑक्साइड गैस; (२) कार्बन पर कार्बन डाइऑक्साइड की क्रिया से बनती हुई कार्बन मोनॉक्साइड गैस; (३) हवा में नीली लौ के साथ जलकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित होती हुई कार्बन मोनॉक्साइड।

पड़ती हैं वे जलती हुई कार्बन मोनॉक्साइड की ही होती हैं। इस प्रकार कोयला डाइऑक्साइड में परिणत होता हुआ हवा में मिलता रहता है, और इस परिवर्त्तन में जिस ताप का उत्पादन होता है वही कोयले के टुकड़ों को रक्त-तप्त रखता है और पानी उबालने, भोजन पकाने, आदि के कामों में लाया जाता है।

कार्बन का कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्त्तन प्रकृति में नाना प्रकार से निरन्तर हुआ करता है। भोजन से संयुक्तावस्था में प्राणियों के रक्त में परिक्षीण तंतुओं के रूप में पहुँचनेवाले कार्बन का मन्द दहन साँस द्वारा बराबर होता रहता है, और इस प्रकार बनी हुई कार्बन डाइऑक्साइड फेफड़ों से बाहर निकलकर हवा में मिलती रहती है। प्राणियों को अपने शरीर की गर्मी और कार्यशक्ति इसी दहन से मिलती है (दे० पृ० १६)। अँगीठी, चूल्हा, भट्ठी, आदि जहाँ-कहीं भी आपको कोयला अथवा लकड़ी अथवा कोई भी कार्बनिक पदार्थ मुक्त हवा में जलता हुआ दिखाई दे तो समझ लीजिए कि जलनेवाली वस्तु का कार्बन ताप उगलता हुआ कार्बन डाइऑक्साइड गैस में बदल रहा है, और यह गैस हलकी गर्म हवा के साथ ऊपर उठती हुई हवा में मिलती जा रही है। हवा में पड़ा हुआ कोयला भी मंद दहन द्वारा, अर्थात् बहुत ही धीरे-धीरे ऑक्सीकृत होकर, कार्बन डाइऑक्साइड में बदलता रहता है। कोयले के जलने के अलावा जीव-पदार्थों के मंडीकरण अथवा सड़ने, तथा चूना बनाने की विधियों में
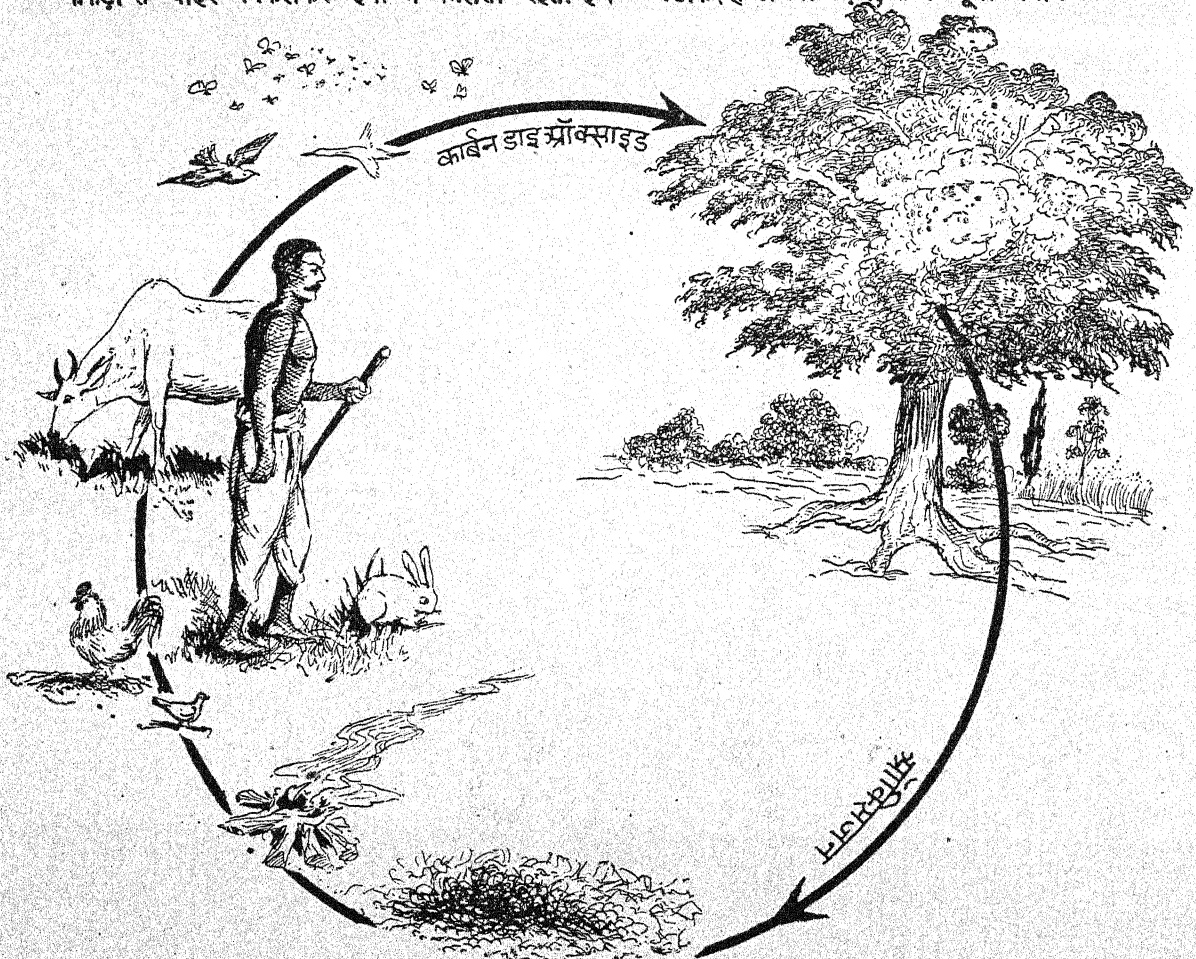
हवा में कार्बन डाइऑक्साइड चक्र

कार्बनिक पदार्थ के सड़ने, जलने अथवा प्राणियों की साँस द्वारा ऑक्सीकरण से बनती हुई कार्बन डाइऑक्साइड को पेड़-पौधे अपनी पत्तियों द्वारा शोषित करते रहते हैं, और कार्बन को अपने कलेवरों के निर्माण के लिए रोककर ऑक्सिजन गैस निकालते रहते हैं। यह चक्र हवा में निरंतर परिचालित होता रहता है।
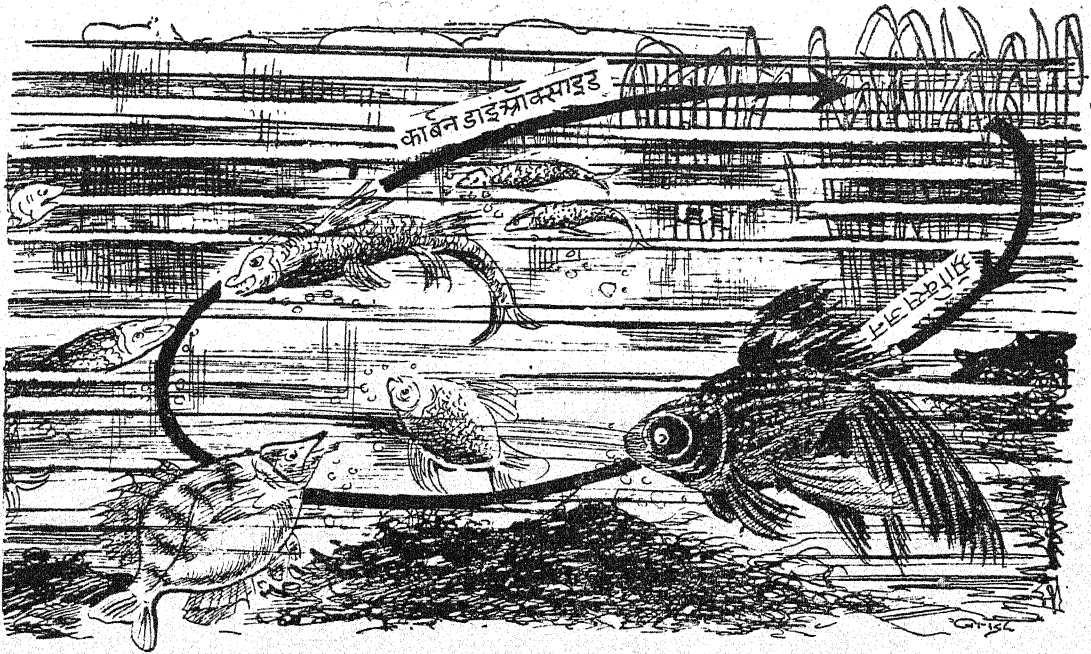
हवा की भाँति पानी में भी कार्बन डाइऑक्साइड चक्र सदैव चला करता है

कंकड़ अथवा चूने के पत्थर के फूँकने में भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकलती और हवा में मिलती रहती है। कहीं-कहीं भू-विवरों से भी यह गैस बड़े परिमाणों में निकलती रहती है।

कार्बन डाइऑक्साइड चक्र

यदि इस प्रकार कार्बन डाइऑक्साइड गैस हवा में मिलती रहे, और हवा में ऑक्सिजन का अंश, इसके कार्बन डाइऑक्साइड में बदलते रहने के कारण, घटता रहे, तो शीघ्र ही सारे प्राणियों का दम घुट जाय! वास्तव में जितना कार्बन, जो वनस्पति-कलेवरों से ही निकला हुआ होता है, ऑक्सीभूत होकर हवा में मिलता रहता है, उतना ही कार्बन हवा की कार्बन डाइऑक्साइड से वनस्पति-कलेवरों में लौटता भी रहता है। हम पहले ही लेख (पृ० २०) में बता चुके हैं कि पेड़-पौधों की पत्तियाँ किस प्रकार अपने क्लोरोफ़िल यंत्र तथा सूर्य-प्रकाश की शक्ति द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड से अपने कलेवरों के लिए आवश्यक कार्बन निकालती रहती हैं। कार्बन और ऑक्सिजन के संयोग में शक्ति का उद्भव होता है, इसके विपरीत कार्बन डाइऑक्साइड के कार्बन और ऑक्सिजन में विच्छिन्न होने में शक्ति का शोषण आवश्यक होता है। यह शक्ति सूर्य-प्रकाश से मिलती रहती है। कार्बन डाइऑक्साइड की बची हुई ऑक्सिजन पत्तियों के छिद्रों से उच्छ्वास द्वारा निकलकर हवा में लौटती रहती है। इस प्राकृतिक व्यवस्था को कार्बन डाइऑक्साइड का चक्र कहते हैं। इसके फलस्वरूप खुली हवा में कार्बन डाइऑक्साइड का अंश वही बना रहता है (दे० पृ० २६५६)। यह चक्र केवल हवा में ही नहीं, पानी में भी परिचालित होता रहता है। नाइट्रोजन चक्र (दे० पृ० १०६५) की भाँति इस चक्र में भी वनस्पति और प्राणिवर्गों में पूर्ण सहयोग स्थापित रहता है—पेड़ों द्वारा छोड़ी हुई ऑक्सिजन प्राणियों के लिए और प्राणियों द्वारा छोड़ी हुई कार्बन डाइऑक्साइड पेड़ों के लिए आवश्यक होती है।

जीवन और अग्नि को बुझा देनेवाली गैस

कार्बन डाइऑक्साइड गैस जीवन अथवा दहन की पोषक नहीं होती, इसलिए उसका अंश अधिक हो जाने पर हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो जाती है। वह हवा से ड्योढ़ी से भी कुछ अधिक भारी होती है, अतः विशेषकर गहरे अथवा बेहवादार स्थानों में हवा के नीचे की तहों में वह कुछ समय तक इकट्ठी रह सकती है। पुराने गहरे अनुपयुक्त कुओं, घाटियों, गड्ढों, गुफाओं, आदि में, जहाँ जीव-पदार्थों के ऑक्सीकरण अथवा सड़ने के कारण भूविवरों या ज्वालामुखियों से निरंतर निकलते रहने के कारण कार्बन डाइऑक्साइड इकट्ठी होती रहती है, उसकी मात्रा इतनी अधिक और ऑक्सिजन की इतनी कम हो जाती है कि प्राणियों का दम शीघ्र ही घुट जाता है (दे० पृ० १४२८)।

कार्बन डाइऑक्साइड के वातावरण में प्रायः सभी हवा में जलनेवाली वस्तुएँ अदाह्य हो जाती हैं, इसीलिए यह गैस आग बुझाने के काम में लाई जाती है। आपने आग बुझाने के यंत्रों को कतिपय स्थानों में दीवालों पर टँगे हुए देखा होगा। मज़बूत धातु के, बहुधा शंकु के आकार के, एक पात्र में सोडियम बाइकार्बोनेट का एक गाढ़ा घोल भरा रहता है। उसके अंदर सल्फ़्यूरिक ऐसिड से भरी हुई शीशे की एक नली लगी रहती है (पृ० २७५४ का चित्र)। काम पड़ने पर नीचे का लट्टू फ़र्श पर ज़ोर से ठोक दिया जाता है, जिससे उससे लगी हुई छड़ ऊपर की ओर बढ़कर शीशे की नली को तोड़ देती है। इस प्रकार सोडियम बाइकार्बोनेट और गंधक का तेज़ाब मिल जाते हैं, और इन दोनों की रासायनिक प्रतिक्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड गैस ज़ोर से निकलने लगती है—

$2NaHCO_3 + H_2SO_4$
सोडियम बाइकार्बोनेट + सल्फ़्यूरिक ऐसिड
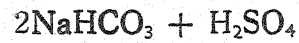
$= Na_2SO_4 + 2H_2O + 2CO_2$
सोडियम सल्फ़ेट + पानी + कार्बन डाइऑक्साइड
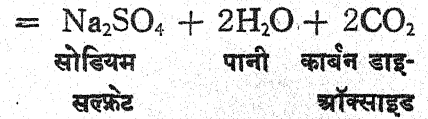
बुझाने के यंत्र के मुख को खोलकर आग की ओर कर देने से कार्बन डाइऑक्साइड गैस, अधिक भारी होने के कारण, हवा को हटा देती है और जलती हुई वस्तु को ढककर उसे बुझा देती है।

फ़ोमाइट नामक आग बुझाने के यंत्रों में सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल के साथ 'लिकरिस' पौधे की जड़ों का रस अथवा कोई अन्य झाग को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ मिला रहता है, और एक लंबे बेलन में गंधक के तेज़ाब की

संयुक्त राज्य अमेरिका के येलोस्टोन पार्क की एक घाटी में भूविवरों से कार्बन डाइऑक्साइड निकलकर इकट्ठी होती रहती है। इस घाटी के अंदर पहुँच जानेवाले प्राणियों का दम शीघ्र ही घुट जाता है। इस प्रकार मरे हुए प्राणियों के अस्थि-पंजर उसमें पड़े रहते हैं। बहुधा रॉकी पर्वतमाला में रहनेवाले भूरे रीछ उसमें मरे पड़े हुए देखे गए हैं।
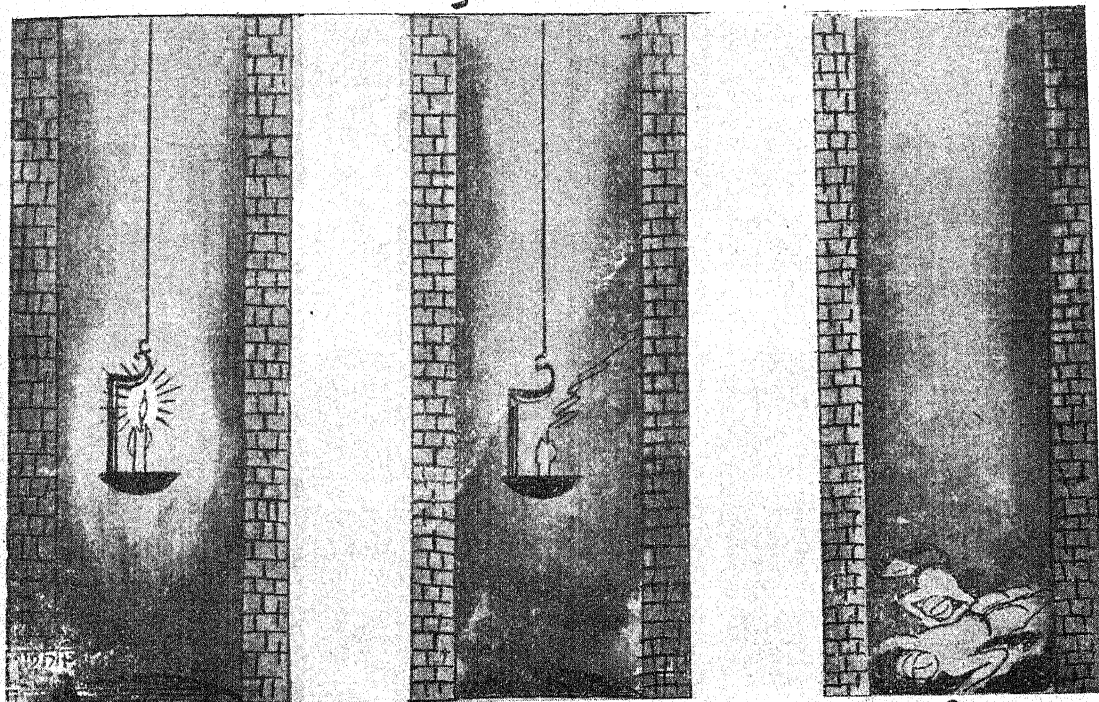
बहुत दिनों से बेकार पड़े हुए कुओं में पैठना ख़तरनाक होता है, कारण बहुधा उनमें कार्बन डाइऑक्साइड इकट्ठी हो जाती है। इनमें पैठने के पहले एक जलती हुई मोमबत्ती अथवा लैम्प को नीचे तक लटकाकर देख लेना चाहिए। यदि वह बुझ जाय तो उसमें तब तक न पैठना चाहिए जब तक पंप द्वारा उसकी हवा बदल न दी जाय, नहीं तो पैठनेवाला उसके अंदर जाकर बाहर जीता हुआ न लौटेगा!

जगह अलुमीनियम सल्फ़ेट का घोल भरा रहता है। अलुमीनिय सल्फ़ेट पर पानी की क्रिया से अलुमीनियम डाइऑक्साइड और सल्फ़्यूरिक ऐसिड का उत्पादन होता है; अतएव जब किसी यांत्रिक विधि से अलुमीनियम सल्फ़ेट का घोल सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल से मिला दिया जाता है, तो इस बाइकार्बोनेट के साथ सल्फ़्यूरिक ऐसिड की प्रतिक्रिया से सोडियम सल्फ़ेट और कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न होते हैं। सोडियम सल्फ़ेट घुलनशील होने के कारण घोल ही में रहता है, किन्तु अलुमीनियम हाइड्रॉक्साइड एक लबलबे अवक्षेप के रूप में पृथक् हो जाता है। अलुमीनियम हाइड्रॉक्साइड और लिकरिस के रस का मिश्रण कार्बन डाइऑक्साइड गैस से मिलकर झाग के रूप में बुझानेवाले यंत्र से ज़ोर से निकलने लगता है। यह झाग जलती हुई वस्तु को मज़बूती से ढककर आग को तुरंत बुझा देता है। तेल में लगी हुई आग को बुझाने में यह यंत्र बहुत ही सफल प्रमाणित हुआ है।

कार्बोनिक ऐसिड गैस

आपने देखा होगा कि जब सोडावाटर की बोतल खोली जाती है तो उसमें से एक गैस निकलती है। यह गैस कार्बन डाइऑक्साइड ही होती है। दबाव में यह गैस पानी में बहुत अधिक घुल जाती है, और दबाव के हटते ही उसमें से निकल पड़ती है। साधारण दबाव में ठण्डे पानी में उसी के आयतन के बराबर कार्बन डाइऑक्साइड घुल सकती है। पानी के साथ संयुक्त होकर वह कार्बोनिक ऐसिड में परिणत हो जाती है—

$$H_2O + CO_2 = H_2CO_3$$

कार्बन डाइऑक्साइड की गणना इसीलिए अम्लीय ऑक्साइडों में होती है, और उसे कार्बोनिक ऐसिड गैस इसीलिए कहते हैं। अम्लीय ऑक्साइड वही है जो पानी में घुलकर किसी अम्ल को उत्पन्न कर दे। जिस पानी में काफ़ी कार्बन डाइऑक्साइड घुली होती है, उसका स्वाद खट्टा इसीलिए होता है। खनिज स्रोतों के पानी में भी कार्बन डाइऑक्साइड काफ़ी घुली होती है। कार्बोनिक अम्ल के अणु अस्थायी होते हैं। वे केवल घोल में ही रह सकते हैं। घोल को सुखाने अथवा गर्म करने अथवा उसके ऊपर के दबाव को कम करने से उपरोक्त क्रिया

पलट जाती है और कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकल जाती है।

कार्बोनिक ऐसिड गैस अपने अम्लीय गुण के कारण क्षारों को अपने लवणों कार्बोनेटों में परिणत कर देती है। सबसे प्रबल क्षार कास्टिक पोटाश के घोल में वह इस प्रकार पूर्णतः शोषित हो जाती है—

$$2\,KOH + CO_2 = K_2CO_3 + H_2O$$

कास्टिक पोटाश कार्बन डाइऑक्साइड पोटैशियम कार्बोनेट पानी

कास्टिक पोटाश इसीलिए उसे शोषित अथवा पृथक् करने के लिए व्यवहृत होता है। चूने के साथ होती हुई कार्बन डाइऑक्साइड की यह रासायनिक प्रतिक्रिया हमें अपने दैनिक जीवन में बहुधा दिखाई देती है।

कार्बन डाइऑक्साइड गैस और चूना

बहुत दिनों तक खुली हवा में रक्खे रहने से चूने की तेज़ी (क्षारीयता) इसीलिए नष्ट हो जाती है कि हवा की कार्बन डाइऑक्साइड उसे खड़िया-जैसी वस्तु—कैल्शियम कार्बोनेट—में बदल देती है। चूने से आप लिख नहीं सकते, किंतु इस प्रकार बना हुआ कैल्शियम कार्बोनेट किसी पृष्ठ पर रगड़ने से खड़िया की भाँति सफ़ेद निशान डालने लगता है। पिछले अंक में हम बता चुके हैं कि खड़िया अति सूक्ष्म सामुद्रिक घोंघियों से बना हुआ कैल्शियम कार्बोनेट ही होती है।

आग बुझाने का एक यंत्र

कुछ दिन तक हवा में खुला हुआ रक्खे रहने देने से चूने के पानी (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड के घोल) पर एक सफ़ेद पपड़ी जम जाती है। इस परिवर्त्तन में भी हवा की कार्बन डाइऑक्साइड की प्रतिक्रिया से कैल्शियम कार्बोनेट बनता है। यह पानी में नहीं घुलता, और इसीलिए चूने के पानी और हवा के संसर्ग-पृष्ठ पर बनकर पपड़ी के रूप में पृथक् होता है—

$$Ca(OH)_2 + CO_2 = CaCO_3 + H_2O$$

यही परिवर्त्तन दीवाल पर पुते हुए चूने पर भी होता है। ताज़ा पुता हुआ चूना रगड़ने से सफ़ेद निशान नहीं डालता, किन्तु कुछ ही दिन बाद वह, यदि उसमें पर्याप्त मात्रा में गोंद अथवा सरेस नहीं मिला होता, खड़िया की भाँति छूटकर कपड़ों आदि में लगने लगता है।

थोड़े से साफ़ चूने के पानी को एक शीशे के गिलास में ले लीजिए और उसमें एक नली डालकर मुँह से फूँकिए। आप देखेंगे कि चूने का पानी दूधिया रंग का हो जाता है। यह परिवर्त्तन भी उपर्युक्त रासायनिक क्रिया के कारण होता है। कैल्शियम कार्बोनेट के पृथक् होते हुए सफ़ेद कण चूने के पानी को दूधिया रंग का कर देते हैं (दे० पृ० १३८)। कार्बन डाइऑक्साइड को पहचानने के लिए इसी रासायनिक क्रिया का व्यवहार हुआ करता है।

किसी चौड़े मुँह की बोतल में मोमबत्ती का एक छोटा-सा जलता हुआ टुकड़ा दीप-चमची पर रखकर अथवा तार की सहायता से अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रविष्ट कीजिए। थोड़ी ही देर में मोम के जलने से बनकर इकट्ठी होती हुई कार्बन डाइऑक्साइड गैस उसे बुझा देगी। अब उस मोमबत्ती को निकाल लीजिए और बोतल में थोड़ा चूने का पानी छोड़कर उसे बंद कर दीजिए। बोतल को ऊपर-नीचे हिलाने से आप देखेंगे कि चूने का पानी दूधिया हो गया। यह इस बात का एक प्रमाण है कि मोमबत्ती के जलने से बननेवाले पदार्थों में से कार्बन डाइऑक्साइड भी एक है।
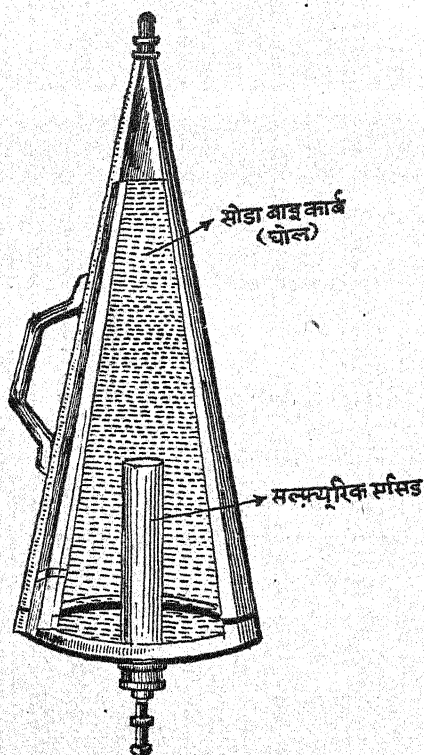
यदि आप चूने के पानी में देर तक मुँह से फूँकते रहें, तो देखेंगे कि चूने का पानी रंगहीन से दूधिया होकर फिर दूधिया से रंगहीन होने लगता है। इसका कारण यह है कि कैल्शियम कार्बोनेट कार्बोनिक ऐसिड से संयुक्त होकर कैल्शियम बाइकार्बोनेट में परिवर्तित होने लगता है, और यह घुलनशील होता है—

$$H_2O + CO_2 = H_2CO_3$$

$$CaCO_3 + H_2CO_3 = Ca(HCO_3)_2$$

वास्तव में, बाइकार्बोनेट में कार्बोनेट से दुगुनी कार्बन डाइऑक्साइड रहती है। आग बुझाने के यंत्रों में सोडियम बाइकार्बोनेट इसीलिए व्यवहृत होता है।

यदि आप दूधिया से फिर साफ़ हो गए हुए इस चूने के पानी को गर्म करें, तो देखेंगे कि वह फिर दूधिया हो जाता है। कारण यह है कि बाइकार्बोनेट अस्थायी होते हैं। घोल को गर्म करने अथवा सुखाने से उपर्युक्त प्रतिक्रिया पलट जाती है, और अघुलनशील कैल्शियम कार्बोनेट अवक्षिप्त हो जाता है—

$$Ca(HCO_3)_2 = CaCO_3 + H_2O + CO_2$$

पानी को उबालने से उसकी अस्थिर कठोरता का निकल जाना (दे० पृ० ५४१) और कतिपय गुफाओं में पाषाण-स्तंभों का बनना (दे० पृ० ५४४) इसी विच्छेदन के कारण संभव होता है।

कार्बोनिक ऐसिड के लवण—कार्बोनेट

खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट), धोनेवाला सोडा (सोडियम कार्बोनेट) अथवा खानेवाला सोडा (सोडियम बाइकार्बोनेट), आदि कोई भी कार्बोनेट लवण थोड़ा-सा ले लीजिए; और उस पर नींबू का रस, सिरका, नमक का तेज़ाब, गंधक का तेज़ाब, आदि कोई अम्ल छोड़िए। आप देखेंगे कि बुदबुदे उठने लगते हैं, और बुदबुदों का उठना किसी गैस के निकलने का द्योतक होता है। वास्तव में किसी भी कार्बोनेट पर तेज़ाब छोड़ने से उस तेज़ाब के लवण, पानी और कार्बन डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन होता है। किसी धातु का कार्बोनेट उसकी भास्मिक ऑक्साइड और कार्बोनिक ऐसिड गैस के संयोग से बना होता है। अतएव उस पर तेज़ाब छोड़ते ही धातु की ऑक्साइड पर उसकी क्रिया द्वारा लवण और पानी का उत्पादन होता है, और कार्बन डाइऑक्साइड गैस अधिक वाष्पशील होने के कारण निकल जाती है। भास्मिक ऑक्साइड उस धातव ऑक्साइड को कहते हैं, जिसकी अम्लों के साथ रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा लवण और पानी उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, कैल्शियम कार्बोनेट ($CaCO_3$ अथवा $CaO.CO_2$) कैल्शियम ऑक्साइड और कार्बन डाइऑक्साइड के योग से बना होता है। उस पर नमक का तेज़ाब छोड़ने से कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकल जाती है, और कैल्शियम क्लोराइड और पानी रह जाते हैं—

$$CaCO_3 + 2HCl = CaCl_2 + H_2O + CO_2$$
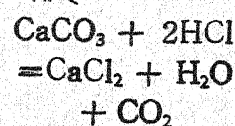
प्रयोगशाला में कार्बोनेट की पहचान परीक्षा-नली में शुष्क पदार्थ को लेकर उसमें नमक अथवा गंधक का हलका तेज़ाब डालकर होती है। यदि गैस के बुदबुदे उठते हैं, और गैस रंगहीन और गंधहीन होती है और चूने के पानी से मिलाने पर उसे दूधिया कर देती है, तो वह लवण कार्बोनेट मान लिया जाता है।

गैसोत्पादक पेयों में सोडियम बाइकार्बोनेट
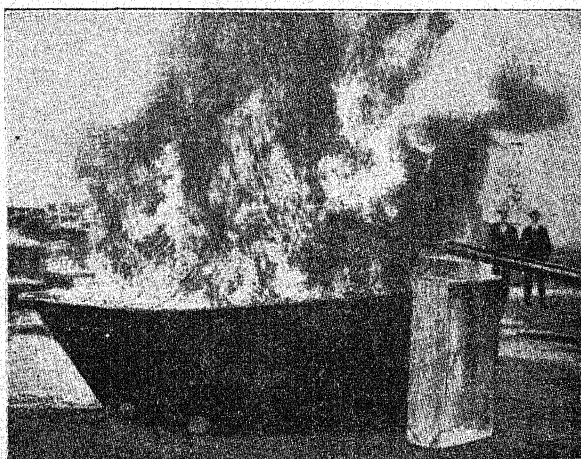
इस टैंक में भरे हुए पेट्रोल में आग लग गई है!
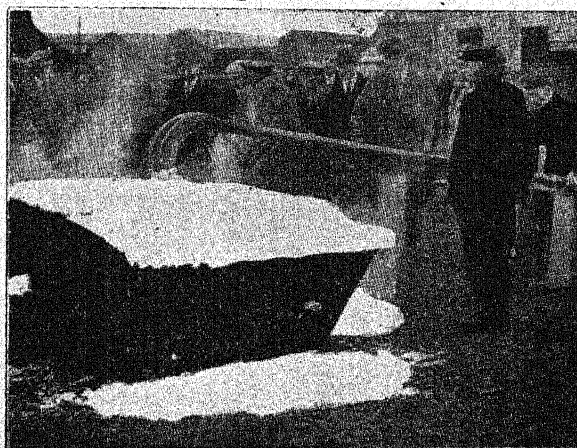
आग बुझाने के फ्रोमाइट नामक यंत्र द्वारा वही पेट्रोल में लगी आग बुझा दी गई है! देखिए, फ्रोमाइट के झाग ने किस प्रकार तेल को आच्छादित कर लिया है!

(खानेवाला सोडा), मैग्नीशियम कार्बोनेट, मैग्नीशियम सल्फ़ेट, साइट्रिक ऐसिड (नींबू का अम्ल) और टार्टरिक ऐसिड (इमली का अम्ल) चूर्ण रूप में मिले रहते हैं। पानी डालते ही दोनों अम्ल घुलकर कार्बोनेटों पर आक्रमण करते हैं, और कार्बन डाइऑक्साइड निकलने लगती है। इस प्रकार बने हुए साइट्रेड और टार्ट्रेट लवण शरीर की अम्लीयता को दूर कर देने, और मैग्नीशियम सल्फ़ेट, हलका जुलाब होने के कारण, पेट को साफ़ करने में सहायक होते हैं। ऐसे गैसोत्पादक चूर्णों को ठोस रूप में कभी न खाना चाहिए, कारण पेट में कार्बन डाइऑक्साइड के भर जाने से मृत्यु तक हो सकती है।

रोटी पकाने के पाउडर में सोडियम बाइकार्बोनेट कतिपय अम्लीय लवणों, यथा पोटैशियम बाइटार्ट्रेट (क्रीम आफ़ टार्टार), के साथ मिला रहता है। गर्म करने पर ही पोटैशियम बाइटार्ट्रेट घुलता है और सोडियम बाइकार्बोनेट से कार्बन डाइऑक्साइड निकाल देता है। इस निकलती हुई गैस से रोटी फूलकर उठ आती है।

तैयारी और परीक्षा

प्रयोगशाला में कार्बन डाइऑक्साइड गैस संगमरमर की चिपाकों, अथवा पिसी हुई खड़िया पर नमक के तेज़ाब की क्रिया से लगभग उसी प्रकार तैयार की जा सकती है, जैसे जस्ता और गंधक की तेज़ाब से हाइड्रोजन (दे० पृ० २७२)। अंतर केवल यह रहता है कि कार्बन डाइऑक्साइड घुलनशील होने के कारण पानी के ऊपर नहीं, किन्तु हवा से भारी होने के कारण हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस (दे० पृ० १६४६) अथवा क्लोरीन की भाँति हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी की जाती है।

घर पर भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस सरलता से और बिना किसी डर और ख़तरे के बनाई जा सकती है। इसके लिए आपको बाज़ार से शायद तीन ही वस्तुएँ खरीदनी पड़ेंगी—दो छेद वाली एक काग, जो किसी गोंददानी अथवा अन्य किसी चौड़े मुँह की बोतल के नाप की हो, एक थिसिल कीप, और समकोण में दो बार झुकी हुई शीशे की एक नली। काग में सूराख इतने ही चौड़े हों कि एक में कीप और दूसरे में नली कसकर लग जाय। अब उस बोतल में संगमरमर के कुछ टुकड़े अथवा पिसी हुई खड़िया ले लीजिए, और काग, कीप और नली इस प्रकार लगा दीजिए जैसा कि पृ० २७५७ के चित्र में प्रदर्शित है। थिसिल कीप से अब इतनी हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़िए कि उसका नीचे का सिरा ऐसिड में अच्छी तरह डूबा रहे। गैस को किसी चौड़े मुँह की बोतल अथवा
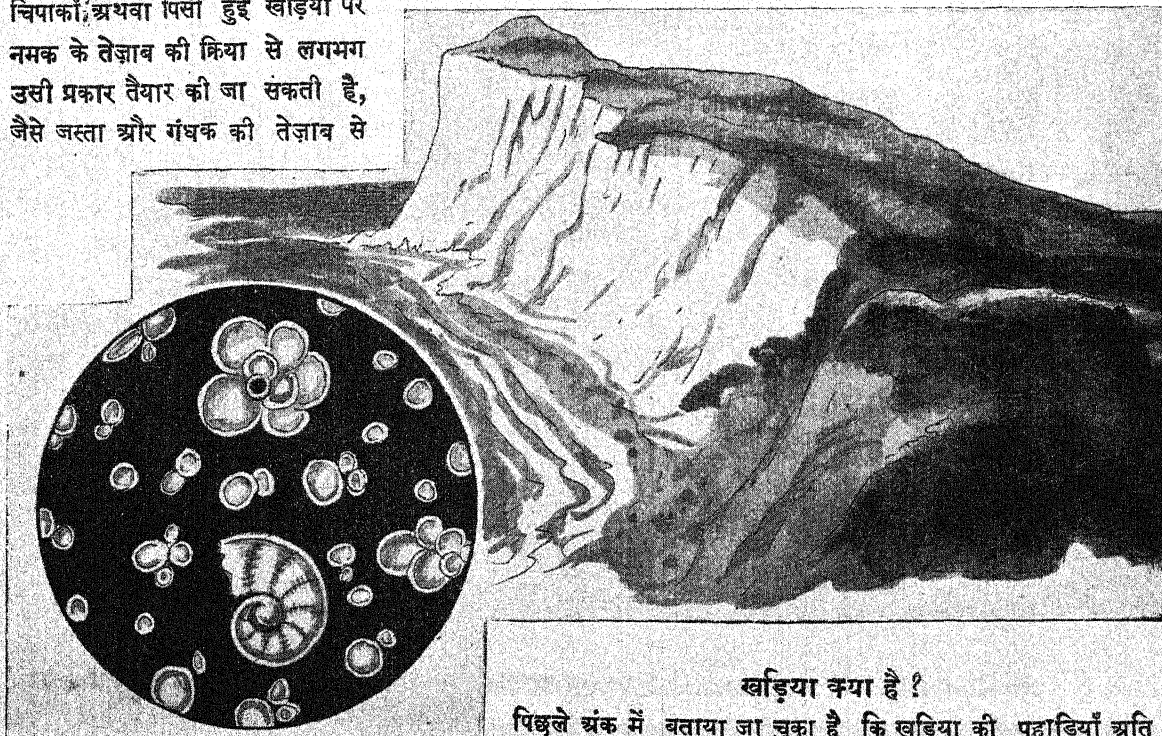
खड़िया क्या है ?

पिछले अंक में बताया जा चुका है कि खड़िया की पहाड़ियाँ अति सूक्ष्म जल-प्राणियों की ठठरियों से बनी होती हैं। सूक्ष्मदर्शक द्वारा पता लगता है कि खड़िया के एक घन इंच में लगभग दस लाख ठठरियाँ रहती हैं। यह कैलिशियम कार्बोनेट की बनी होती हैं।

काँच के गिलास में इकट्ठा कीजिए। इसे गत्ते के एक चेंदे द्वारा ढके रखिए, जिससे गैस हवा से सरलता से न मिल सके। यह जानने के लिए कि पात्र गैस से कब पूर्णतः भर जाता है, एक जलती हुई मोमबत्ती की लौ को उसके मुँह के खुले हुए सिरे की ओर ले जाइए। उसका बुझ जाना इस बात का संकेत होगा कि पात्र कार्बन डाइऑक्साइड गैस से भर गया। उससे शीशे की नली को गैसोत्पादक बोतल उठाकर निकाल लीजिए, और पात्र को चेंदे द्वारा पूर्णतः ढक दीजिए। इस प्रकार जब तक गैस निकलती रहे, आप उससे कई पात्र भर सकते हैं।

एक जलती हुई दियासलाई, सींक अथवा मोमबत्ती को गैस भरे पात्र के अन्दर प्रविष्ट कीजिए। वह तुरन्त बुझ जायगी। एक जलती हुई मोमबत्ती पर गैस को उँड़ेलिए, वह बुझ जायगी। एक प्लेट पर थोड़ा-सा पेट्रोल अथवा मिट्टी के तेल से भीगी हुई रुई जलाइए। उस पर गैस को उँड़ेलते ही लौ बुझ जायगी। गैसभरे पात्र में एक चुहिया को छोड़िए। उसका दम तुरन्त घुट जायगा। थोड़ा चूने का पानी एक गैसभरे पात्र में डालिए, और उसे बन्द करके ऊपर-नीचे हिलाइए। चूने का पानी दूधिया हो जायगा। उसी दूधिया द्रव में गैस की निकास-नली का सिरा डुबा दीजिए। कुछ समय तक उसमें गैस बुलबुलाती रहने से वह फिर साफ़ हो जायगा। इस साफ़ द्रव को किसी पात्र में गर्म कीजिए, वह फिर दूधिया रंग का हो जायगा।
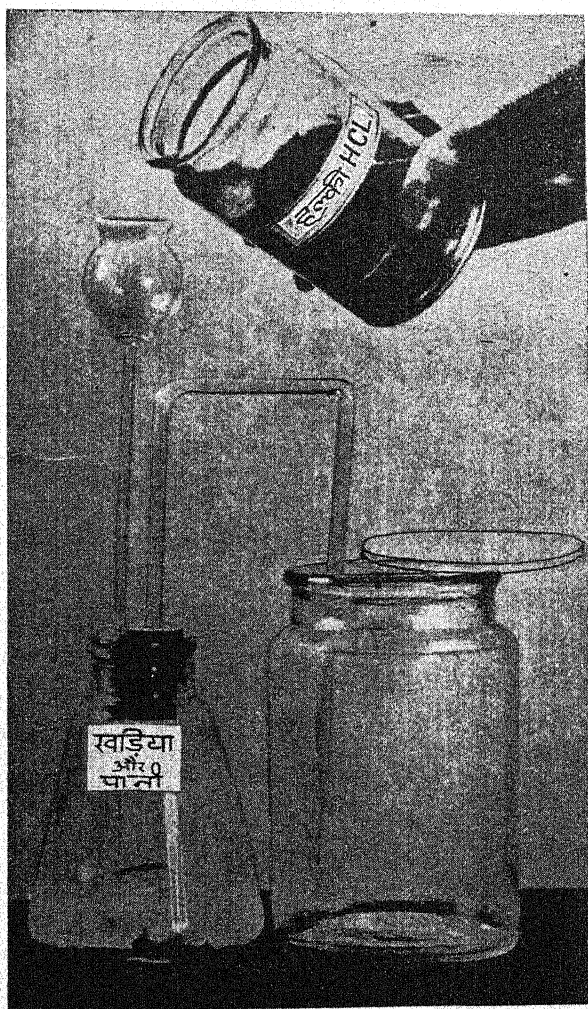
घर में कार्बन डाइऑक्साइड आप इस प्रकार तैयार कर सकते हैं।

यदि आपको मैग्नीशियम के फ़ीते का एक टुकड़ा मिल सके तो उसे चिमटी से पकड़कर और जलाकर कार्बन डाइऑक्साइड गैस से भरे पात्र में प्रविष्ट कीजिए। वह सफ़ेद धुआँ और कुछ छोटे-छोटे काले टुकड़ों को निकालते हुए जलेगा (दे० पृ० १४०)। सफ़ेद वस्तु मैग्नीशियम ऑक्साइड होती है और काली वस्तु कार्बन—

$$CO_2+2\,Mg = 2\,MgO+C$$
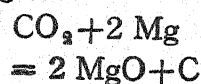
थोड़ी सी गर्म हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पात्र में डालिए और उसे बंद करके हिलाइए। मैग्नेशियम ऑक्साइड घुल जाता है, किन्तु कार्बन के टुकड़े नहीं घुलते। छान लेने से यह कार्बन अलग निकल आता है। कार्बन डाइऑक्साइड से कार्बन निकालने अथवा उसमें कार्बन की उपस्थिति को सिद्ध करने के लिए यह प्रतिक्रिया प्रयुक्त होती है।

मैग्नीशियम के अलावा ऑक्सिजनसे प्रबलता से संयुक्त होकर जलनेवाली धातुएँ सोडियम और पोटैशियम भी कार्बन डाइऑक्साइड में इसी प्रकार जलती हैं; लेकिन इनकी ऑक्साइडें प्रबल क्षारीय होने के कारण कार्बन डाइऑक्साइड से संयुक्त होकर कार्बोनेटों में परिणत हो जाती हैं।

तरल और ठोस कार्बन डाइऑक्साइड—सूखी बर्फ़

आजकल जहाज़ों में हिमीकरण के निमित्त अमोनिया (दे० पृ० १३०८-१३०९) के स्थान में कार्बन डाइऑक्साइड का उपयोग होता है। अमोनिया की तीक्ष्ण दुर्गन्ध यात्रियों को कष्टदायी होती है, अतएव यदि इसका व्यवहार होता

भी है तो इस बात की सावधानी रक्खी जाती है कि वह फैल न सके। नीचे तापक्रमों पर ऊँचे दबाव में संकुचित करने पर कार्बन डाइऑक्साइड गैस सरलता से द्रवीभूत की जा सकती है; यथा, बर्फ़ के तापक्रम (0°C) पर द्रवीभूत करने के लिए उसे वायुमंडल से लगभग ३४ गुने दबाव पर संकुचित करना पड़ता है। वायुमंडल के साधारण दबाव में वह लगभग – ८०°C पर द्रवीभूत होती है, अथवा यों कहिए कि तरल कार्बन डाइऑक्साइड – ८०°C पर उबलती है। कार्बन डाइऑक्साइड द्रव के वाष्पीकरण से ताप का शोषण अथवा शीत का उत्पादन – हिमीकरण – किया जाता है। जहाज़ के हिमीकरण-कक्ष में लगी हुई नलियों में अमोनिया अथवा कार्बन डाइऑक्साइड द्रव का वाष्पीकरण होता रहता है। ताप के शोषण के कारण वह अत्यन्त ठंडा बना रहता है, और उसमें रखकर मांस, मछली, अंडे, फल, आदि जल्दी सड़ जानेवाले पदार्थ बिना खराब हुए दूर देशों में भेजे जा सकते हैं।

जब तरल कार्बन डाइऑक्साइड सवेग वाष्पीभूत की जाती है तो वह स्वयं अत्यंत ठंडी होकर सफ़ेद बर्फ़ में जम जाती है। यह बर्फ़ एक मनोरंजक और उपयोगी वस्तु होती है। हवा में रखने से वह बिना पिघले ही गैस-रूप में उड़ जाती है। इसीलिए उसे 'सूखी बर्फ़' कहते हैं। वह अन्य घनीभूत गैसों की भाँति इतनी ठंडी होती है कि उसे कसकर पकड़ लेने से हाथ उसी प्रकार जल जाता है और उसमें फफोले पड़ आते हैं जैसे आग से! बग़ैर दबाए हुए वह बिना किसी डर के छुई जा सकती है; कारण, उसके और हाथ के बीच में कार्बन डाइऑक्साइड गैस का एक पर्त बना रहता है जो ताप का कुचालक होता है। आजकल सूखी बर्फ़ का उपयोग आइसक्रीम बनाने, मछलियों के पार्सलों को ठंडा रखने, आदि कामों में तथा रेलवे के हिमीकारक डब्बों में बहुत होने लगा है। अतः व्यापारिक उपयोगिता के कारण उसका निर्माण बड़े परिमाणों में होने लगा है।

प्राणघातक विष—कार्बन मोनॉक्साइड गैस

हवा में सामान्यतः कार्बन मोनॉक्साइड नहीं होती, क्योंकि अस्थायी होने के कारण वह ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत हो जाती है। वह ऐसे ही स्थानों में उत्पन्न हो सकती है, जहाँ कार्बन का अपर्याप्त हवा में ऑक्सीकरण हो रहा हो। बहुधा समाचार मिलते हैं कि कतिपय व्यक्ति ठंड से बचने के वास्ते बंद कमरे में अँगीठी जलाकर सो गए और दूसरे दिन दरवाज़े के तोड़े जाने पर मरे हुए पाए गए! इस प्रकार की मृत्युओं का कारण कार्बन मोनॉक्साइड गैस ही होती है, जो अपर्याप्त हवा में कोयले के जलने से बनने लगती है। यह गैस बड़ी ही विषाक्त होती है, और रंगहीन और गंधहीन होने के कारण उसकी उपस्थिति पहचानी भी नहीं जा सकती। फेफड़ों में पहुँचकर वह रुधिर के रक्त-पदार्थ हीमोग्लोबिन से संयुक्त होकर उसे एक ऐसे चटक लाल रंग के स्थायी पदार्थ—कार्बोनिल हीमोग्लोबिन—में बदल देती है, जिससे परिक्षीण तंतुओं का साँस द्वारा ऑक्सीकरण संभव नहीं होता। १/२० प्रतिशत कार्बन मोनॉक्साइड मिली हुई हवा में लगभग एक घंटे साँस लेते रहने से जी मतलाने लगता है, १/१० प्रतिशत में चलने की सामर्थ्य नहीं रहती, १/५ प्रतिशत में बेहोशी आ जाती है और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है, २/५ प्रतिशत में बहुधा मृत्यु हो जाती है, और १ प्रतिशत में कुछ ही मिनटों में बेहोशी आ जाती है और थोड़ी ही देर में मृत्यु हो जाती है। विलायती देशों में, जहाँ कोल गैस, जल-गैस, उत्पादक गैस आदि गैसीय ईंधन गैस के चूल्हों, स्टोवों और लैम्पों में जलाए जाते हैं, कार्बन मोनॉक्साइड के फैल जाने का सदैव डर रहता है। कारण, इन सब गैसीय ईंधनों में कार्बन मोनॉक्साइड अवश्य रहता है। यदि कमरा बंद हुआ अथवा हवादार न हुआ, और टोंटी खराब होने अथवा अपर्याप्त हवा में गैस जलाई जाने के कारण कार्बन मोनॉक्साइड फैलने लगी तो समझ लीजिए कि कमरे में रहनेवालों को यमदूतों ने आ घेरा।

यदि कोई व्यक्ति कार्बन मोनॉक्साइड के विष से पीड़ित हो तो उसे तुरन्त कृत्रिम श्वास देते हुए ९५% ऑक्सिजन और ५% कार्बन डाइऑक्साइड गैस के मिश्रण की साँस देना चाहिए। उसे गर्म भी रखना चाहिए, और यदि बेहोश होने लगे तो थोड़ी ब्रांडी अथवा व्हिस्की पिला देना चाहिए।

धातुओं आदि के निर्माण करने की उन भट्ठियों से, जिनमें कोयला अपर्याप्त ऑक्सिजन की उपस्थिति में जलता है, कार्बन मोनॉक्साइड अवश्य निकलती है। लम्बी चिमनियों से उनकी गैसें हवा के ऊपर के स्तरों में फेंक दी जाती हैं। कार्बन मोनॉक्साइड हवा से थोड़ी-सी अधिक हलकी होती है, अतः वह नीचे नहीं आती और हवा में मिलकर कार्बन डाइऑक्साइड में ऑक्सीभूत हो जाती है।

प्रयोगशाला में कार्बन मोनॉक्साइड गैस फ़ॉर्मिक ऐसिड ($HCOOH$) अथवा ऑक्सलिक ऐसिड [$(COOH)_2$] अथवा इनके किसी लवण तथा सांद्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म करके तैयार की जाती है। गन्धक का तेज़ाब फ़ार्मिक ऐसिड से पानी के अवयव खींच लेता है और बची हुई कार्बन मोनॉक्साइड निकल जाती है—

$$HCOOH = H_2O + CO$$

ऑक्सलिक ऐसिड से कार्बन मोनॉक्साइड और डाइ-ऑक्साइड का मिश्रण निकलता है—

$$(COOH)_2 = H_2O + CO + CO_2$$
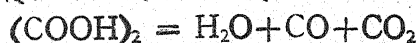
किन्तु यह कार्बन डाइ-ऑक्साइड कास्टिक पोटाश के घोल में बुलबुलाकर शोषित करके पृथक् की जा सकती है। पानी में अघुलनशील होने के कारण कार्बन मोनॉक्साइड पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है। इस गैस को तैयार करने में इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि वह सूँघी न जाय और न उससे मिली हवा में साँस ली जाय।

गैसीय ईंधन

कार्बन मोनॉक्साइड का सबसे बड़ा महत्व उसके एक उपयोगी गैसीय ईंधन होने में है। इसी लेख के शुरू में आप देख चुके हैं कि अँगीठी में कार्बन मोनॉक्साइड गैस ही ऊपर निकलकर हवा में जलती है। यदि अँगीठी ऊपर से बंद कर दी जाय और ढक्कन में एक निकास-नली लगा दी जाय तो यह गैस बिना जले हुए अर्थात् बिना कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित हुए ही निकलेगी। ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का निर्माण इसी प्रकार किया जाता है। आजकल मोटरकारों में लगाए जानेवाले गैस-प्लांटों में कार्बन मोनॉक्साइड इसी प्रकार उत्पन्न होती है। इन्हें ऊपर से बन्द अँगीठियाँ ही समझिए!

यदि आप जलती हुई मोमबत्ती पर कार्बन डाइऑक्साइड गैस उँड़ेलें, तो वह तुरंत बुझ जायगी!

ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का बड़े परिमाणों में उत्पादन करनेवाली बन्द भट्ठियों को 'उत्पादक' और इनसे निकलनेवाली गैस को 'उत्पादक गैस' कहते हैं। उत्पादक भट्ठी में कोक भर दिया जाता है और नीचे से हवा प्रविष्ट की जाती है। ऑक्सिजन का एक अणु कार्बन से संयुक्त होकर कार्बन मोनॉक्साइड के दो अणुओं में परिणत होता है—

$$2C + O_2 = 2CO$$

अतः ऐवेगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार (दे० पृ० १५३८) ऑक्सिजन के एक आयतन से कार्बन मोनॉक्साइड के दो आयतन बनते हैं। हवा में लगभग ४ भाग नाइ-ट्रोजन के और १ भाग ऑक्सिजन का रहता है, अतएव उत्पादक गैस लगभग दो भाग नाइट्रोजन और एक भाग कार्बन मोनॉक्साइड का मिश्रण होती है। उत्पादक गैस काँच, जस्ता, इस्पात आदि पदार्थों के बनाने की भट्ठियों में तथा गैस-इंजिनों को चलाने में ईंधन की भाँति व्यवहृत होती है।

कार्बन मोनॉक्साइड-युक्त एक दूसरे गैसीय ईंधन को 'जल-गैस' कहते हैं। इसमें आयतनों के अनुसार लगभग ५०% हाइड्रोजन, ४०% कार्बन मोनॉक्साइड, और शेष १०% में नाइट्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड गैसें रहती हैं। जल-गैस उत्पादक गैस से कहीं अधिक गर्मी देती हुई जलती है। जल-गैस और तेल-गैस के मिश्रण का व्यवहार घरेलू चूल्हों तथा गैस-लैम्पों में होता है। इससे हाइड्रोजन गैस भी निकाली जाती है। पृ० १०७०-७२ पर यह सचित्र बताया जा चुका है कि हवा द्वारा कोक को श्वेत-तप्त करके और फिर उसके बीच भाप प्रवाहित करके जल-गैस किस प्रकार उत्पन्न की जाती है। भाप की क्रिया

उत्पादक गैस

ईंधन के निमित्त कार्बन मोनॉक्साइड का बड़े परिमाणों में उत्पादन करनेवाली बन्द भट्टियों को 'उत्पादक' और उनसे निकलनेवाली गैस को 'उत्पादक गैस' कहते हैं। उत्पादक भट्टी में कोक भर दिया जाता है और नीचे से हवा प्रविष्ट की जाती है। ऑक्सिजन का एक अणु कार्बन से संयुक्त होकर कार्बन मोनॉक्साइड के दो अणुओं में परिणत होता है। अतः ऐवेगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार ऑक्सिजन के एक आयतन से कार्बन मोनॉक्साइड के दो आयतन बनते हैं। हवा में लगभग ४ भाग नाइट्रोजन के और १ भाग ऑक्सिजन का रहता है, अतएव उत्पादक गैस लगभग दो भाग नाइट्रोजन और एक भाग कार्बन मोनॉक्साइड का मिश्रण होती है। उत्पादक गैस काँच, जस्ता, इस्पात आदि पदार्थों के बनाने की भट्टियों में तथा गैस-इंजिनों को चलाने में ईंधन की भाँति व्यवहृत होती है।

से उत्पन्न होती हुई जल-गैस अलग गैस-होल्डरों में एकत्र कर ली जाती है। उन्हीं पृष्ठों पर और उसी चित्र में हैबर की अमोनिया के निर्माण के लिए हाइड्रोजन को पृथक् करने की विधि भी प्रदर्शित है। आप उसमें देख चुके हैं कि अमोनिया में बनाया हुआ क्यूप्रस क्लोराइड का घोल कार्बन मोनॉक्साइड का शोषक होता है।

जल-गैस से मेथिल अल्कॉहल का भी निर्माण होता है। जब जल-गैस के दो आयतनों और हाइड्रोजन के एक आयतन का मिश्रण लगभग २०० वायुमंडलों के दबाव पर संकुचित करके लगभग ४००°C तक गर्म किए हुए ज़िङ्क ऑक्साइड और क्रोमिक ऑक्साइड के मिश्रण पर प्रवाहित किया जाता है तो, इन ऑक्साइडों के उत्प्रेरक प्रभाव द्वारा, कार्बन मोनॉक्साइड और हाइड्रोजन संयुक्त होकर मेथिल अल्कॉहल में परिवर्त्तित हो जाते हैं—

$$CO + 2H_2 = CH_3OH$$

इस प्रकार निकलता हुआ मेथिल अल्कॉहल का वाष्प ठंडे पात्रों में द्रवीभूत करके इकट्ठा कर लिया जाता है। इसी मेथिल अल्कॉहल को स्पिरिट (एथिल अल्कॉहल) में मिलाकर मेथिलेटेड स्पिरिट बनाई जाती है।
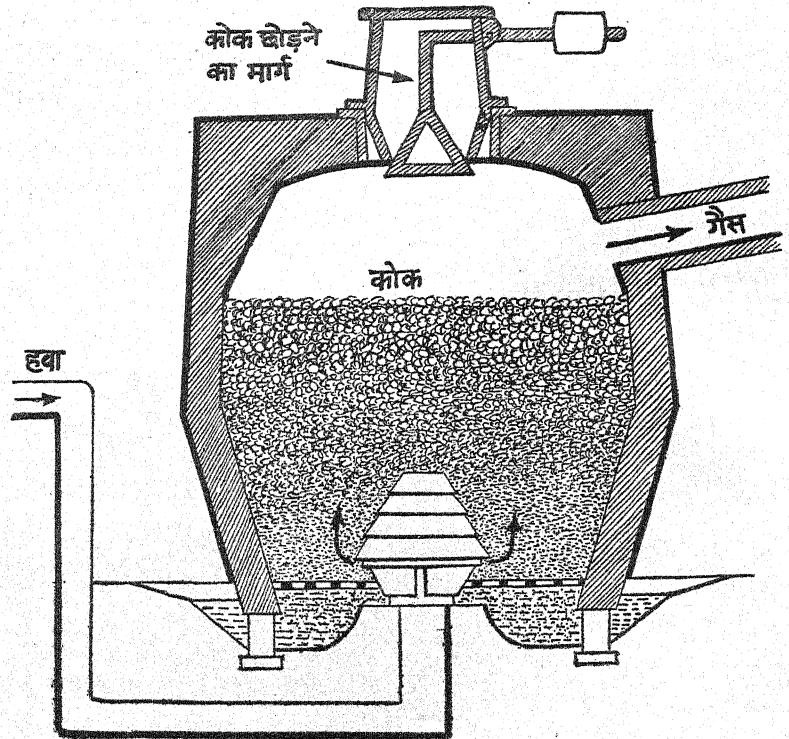
बहुधा ईंधन-गैस कोक की भट्टी में हवा और भाप के मिश्रण को प्रवाहित करके बनाई जाती है। इस विधि में हवा की नाइट्रोजन और कोक पर उसकी क्रिया से बनी हुई कार्बन डाइऑक्साइड पृथक् नहीं हो पाती। इसलिए इसमें लगभग ५०% नाइट्रोजन, २५% कार्बन मोनॉक्साइड, १५% हाइड्रोजन, और शेष कार्बन डाइऑक्साइड होती है। इस गैसीय ईंधन को अर्द्ध-जल-गैस कहते हैं। इसके जलने पर जल-गैस से कम गर्मी का उत्पादन होता है।

कार्बन मोनॉक्साइड गैस निकल, कोबाल्ट, लोहा, आदि धातुओं से संयुक्त होकर कार्बोनिल नामक यौगिक [यथा, निकल कार्बोनिल $Ni(CO)_4$] बनाती है, जो ऊँचे तापक्रम पर फिर धातु और कार्बन मोनॉक्साइड गैस में विच्छिन्न हो जाते हैं। खनिजों से निकल धातु के निकालने में कार्बन मोनॉक्साइड की इस रासायनिक क्रिया का उपयोग होता है।

पृ० १७६३ पर यह बताया जा चुका है कि कार्बन मोनॉक्साइड और क्लोरीन के संयोग से फ़ास्जीन नामक विषाक्त गैस कैसे बनती है, और पहले महायुद्ध में वह कैसे प्रयुक्त हुई थी।

पृथ्वी की कहानी
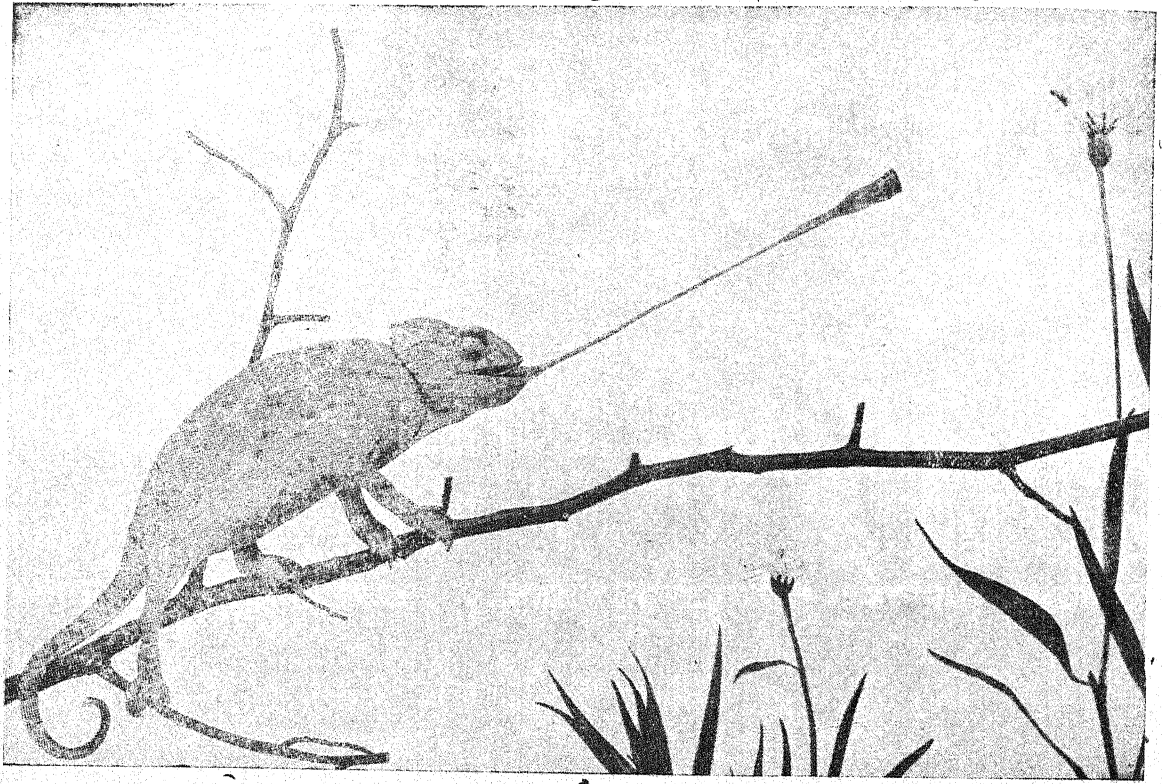
अफ़्रीका की कैमीलियन (गिरगिट) जाति की एक छिपकली अपनी विचित्र जिह्वा को आगे बढ़ाकर एक मक्खी को पकड़ने का प्रयत्न कर रही है। इसकी यह जीभ कई फ़ीट तक आगे बढ़ाई जा सकती है, और उस पर एक लसलसा द्रव रहता है, जिससे चिपक जाने पर फिर शिकार उससे छूट नहीं सकता!

(बाईं ओर)
न्यूज़ीलैण्ड की टुआटेरा नामक अद्भुत छिपकली! यह अत्यन्त प्राचीन काल के उरंगमों की याद दिलानेवाला एक अनोखा जीव है। चित्र में यह अपने बिल के मुहाने पर बैठा दिखाई दे रहा है।

(दाहिनी ओर)
मलाया की उड़नेवाली छिपकली। इसके बदन के आसपास फैले हुए चमगादड़ के-से पंख उसे उड़ने में सहायता देते हैं।
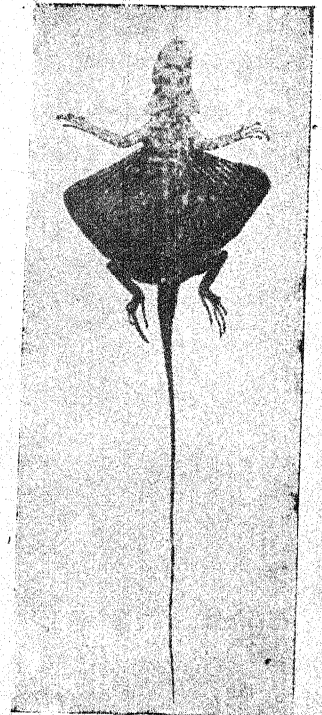
भारतवर्ष तथा अन्य देशों के वर्त्तमान और प्राचीन उरंगम

३—छिपकलियाँ

इस लेखमाला के पिछले दो प्रकरणों में आप कच्छप, मगर और सर्प जाति के वर्त्तमान प्राणियों तथा उन भीमकाय प्राचीन उरंगमों के संबंध में भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने इस भूमण्डल पर किसी समय अपना साम्राज्य-सा स्थापित कर लिया था, किन्तु जिनके अब केवल हड्डियों के अवशेष ही मिलते हैं। प्रस्तुत प्रकरण इस लेखमाला का तीसरा और अंतिम खंड है और इसमें उरंगम जाति के अन्य एक प्रधान वर्ग के प्राणियों का वर्णन किया गया है, जिन्हें जीव-विज्ञान के अंतर्गत छिपकलियों के नाम से पुकारा जाता है और जिनकी लगभग १८०० जातियाँ मिलती हैं।

घरों में रहनेवाली छिपकलियों को हम नित्य देखते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं, किन्तु वास्तव में ये सब घृणा की पात्र नहीं। बहुत-सी छिपकलियाँ रंग-रूप में अति सुन्दर हैं; कुछ अति घातक प्रतीत होने पर भी निर्दोष हैं; साथ ही साथ कुछ ऐसी भी हैं जो निष्कपट दिखने पर भी घातक आक्रमण करती हैं। कुछ छिपकलियों में रंग बदलने की अद्भुत शक्ति होती है, कुछ उड़नेवाली भी छिपकलियाँ हैं, कुछ बिना पैर की हैं और कुछ ऐसी भी हैं, जो इच्छानुसार अपनी दुम को धड़ से अलग कर लेती हैं। इस लेख में हम इन्हीं अद्भुत जीवों का परिचय आपको देंगे।

एक लेखक का कथन है कि छिपकलियों का भविष्य उज्ज्वल है—यद्यपि डील-डौल में वे कोई उन्नति नहीं कर रही हैं, परन्तु उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है! मानव-जाति का भूमंडल पर दिन प्रतिदिन अधिकार बढ़ते देखकर हम यह मानने को तैयार नहीं कि इस प्रकार का कोई जीव भविष्य में उन्नति कर सकेगा। पर जो भी हो, इस समय लगभग अठारह सौ से भी अधिक इनकी जातियाँ भूमंडल पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ समुद्र में विचरनेवाली भी हैं। इनमें से कुछ तो बहुत छोटी हैं और कुछ तीन स्वस्थ पुरुषों से भी अधिक लम्बी हैं। ये प्रायः सभी पूँछदार होती हैं और अधिकांश का शरीर पतले छिलकों से आच्छादित रहता है, जो नुकीले और खुरदरे होते हैं। कुछ छिपकलियों के छिलके चिकने होते हैं और कुछ के शरीर पर परत होते ही नहीं।

अधिकांश छिपकलियों के चार चरण होते हैं, पर कुछ के केवल दो और कुछ के पैर होते ही नहीं। छिपकलियों के पंजों के नाखून तेज़ नहीं होते। घरेलू छिपकलियों की अंगुलियों में गुदगुदी गद्दियाँ होती हैं, जिनके सहारे ये सीधी दीवार पर आसानी से चढ़ जाती हैं। मरुस्थल में रहनेवाली छिपकलियों की अँगुलियों पर चारों ओर सिन्ने होते हैं, जिनके कारण वे सरलता से बालू पर चल-फिर सकती हैं। कुछ छिपकलियों की पूँछ लघु और स्थूल होती है तथा कुछ की लम्बी व पतली। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ उनके धड़ और सिर की लम्बाई से दुगनी या तिगुनी तक बड़ी होती है। वे अपनी बड़ी दुम को फटफटाकर ज़ोर से अपने शत्रु को मारती हैं। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ में सबसे विचित्र बात यह पाई जाती है कि वह शरीर से अलग हो जाती है! वे शत्रु का आक्रमण होने पर शरीर को ऐसे ज़ोर से झटकती हैं कि पूँछ अलग जा गिरती है! पर धड़ से अलग होने पर भी वह कुछ देर तक छटपटाती रहती है, जिससे शत्रु का ध्यान उस उछलती-कूदती दुम पर जा पड़ता है और वह छिप-

अपने शरीर का रंग बदलने के लिए मशहूर कैमीलियन या गिरगिट नामक छिपकली वर्ग के प्राणी की विचित्र जीभ, जिसे दूर तक बाहर निकालकर वह मक्खियों आदि का शिकार करता है!
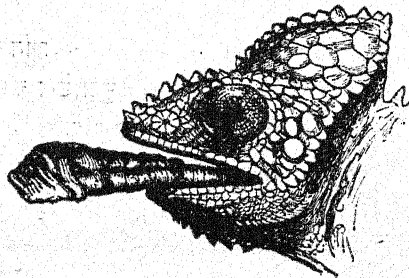
कली के धोखे में उसे ही पकड़ लेता है। इस बीच छिपकली भागकर प्राण बचा लेती है। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उस छिपकली के फ़िर एक नवीन पूँछ उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि वह पहले की भाँति अच्छी नहीं होती। कभी-कभी एक दुम के स्थान पर दो-तीन दुम भी निकल आती हैं!

छिपकलियों की जीभ अनेक प्रकार की होती है। कुछ की मोटी व चौड़ी होती है, पर अधिकांश की पतली, लम्बी और सर्प की जीभ के समान आगे की ओर दो भागों में विभाजित रहती है। रंग-परिवर्त्तन करनेवाले गिरगिट की जीभ सबसे अधिक अद्भुत होती है। जब वह किसी पतिंगे कोपकड़ना चाहता है तो अपनी जीभ को बड़ी तेज़ी से ७-८ इंच आगे निकाल लेता है। उस जीभ के फैले हुए छोर पर एक प्रकार का चिपचिपा रस होता है, जिस पर पतिंगा चिपक जाता है! कहने की आवश्यकता नहीं कि जीभ खींचने पर शिकार अप्रयास ही मुख में प्रवेश कर जाता है। गिरगिट की इस जीभ के बाहर निकलने और भीतर जाने की क्रिया इतनी तेज़ी से होती है कि बहुधा मनुष्य खाली आँखों से उसका निरीक्षण नहीं कर पाता। अतः कैमरे की सहायता लेनी पड़ती है।

छिपकलियों के दाँतों की बनावट सर्पों के दाँतों की भाँति होती है। बड़ी छिपकलियों के काटने पर घाव हो जाते हैं, जिनके पकने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं। लोगों का यह खयाल है कि साधारण छिपकलियों में से कुछ विषैली भी होती हैं और गिरगिट, बिसखोपरा या गोह के काटने से मनुष्य प्रायः मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं, परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः इन जीवों के किसी भी अंग में विष नहीं पाया जाता। केवल दो जातियों की छिपकलियों में ही विष होता है, जो कि मैक्सिको या उसके समीपवर्त्ती भागों में पाई जाती हैं। इनके मुख में विष की थैली और विषदंत भी होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे।

प्रायः सब छिपकलियों के नेत्रों में पारदर्शक झिल्लियाँ रहती हैं, किन्तु उनमें पलक नहीं होते। कुछ जातियों को छोड़ प्रायः सभी छिपकलियाँ रात्रि में शिकार के लिए निकलती हैं और दिन में छिपी रहती हैं। बहुत-सी छिपकलियाँ तेज़ आवाज़ करने के लिए प्रसिद्ध हैं। कदाचित् वे अपनी जीभ को तालू पर मारकर पट-पट-सी आवाज़ उत्पन्न करती हैं। घरेलू छिपकलियों की गति मन्द होती है, किन्तु कोई-कोई अत्यंत फुर्तीली भी होती हैं। कुछ इतनी शीघ्रता से दौड़ती हैं कि दृष्टिगोचर ही नहीं होतीं! शरीर के अगले भाग को उठाकर वे पिछले पैरों के बल पूँछ की सहायता से दौड़ती हैं। अधिकांश छिपकलियाँ स्थलवासी हैं, परन्तु कुछ वृक्षों पर, कुछ जल में तथा कुछ जल और थल दोनों में ही निवास करती हैं। कुछ छिपकलियाँ अंडे देती हैं और कुछ के अंडे गर्भ में ही फूट जाते हैं, जिसके कारण जीवित बच्चे उत्पन्न होते हैं।

सबसे प्राचीन छिपकली

न्यूज़ीलैंड और उसके समीपवर्त्ती द्वीपों में छिपकली जैसा एक विचित्र उरंगम पाया जाता है, जो शरीर-रचना और स्वभाव में कुछ-कुछ कछुओं और कुछ-कुछ पक्षियों से मिलता-जुलता है। यह उन प्राचीन पुरखों का एक बचा हुआ स्मारक है, जिनसे वर्त्तमान जातियों की छिपकलियों का विकास हुआ है। इसका नाम 'टुआटेरा' अथवा 'स्फेनोडोन' है। एक समय न्यूज़ीलैंड में छिपकलियाँ बहुतायत से थीं, किन्तु आजकल वे वहाँ लुप्तप्राय-सी हो गई हैं। प्रकृति के इन स्मारकों को लुप्त होने से बचाने के हेतु वहाँ की सरकार ने उनकी रक्षा का काफ़ी प्रबन्ध किया है। वहाँ के निकटवर्त्ती कुछ टापुओं में उनकी ऐसी कड़ी रक्षा की जाती है कि वैज्ञानिकों को भी इन छिपकलियों के नमूने प्राप्त करने के लिए आज्ञा लेने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। ये डरपोक जीव समुद्री पक्षियों के साथ बिलों में रहते हैं और अपने जीवन का विशेष समय बिलों के द्वार पर ही व्यतीत कर देते हैं। छेड़े जाने पर ये काटने और पंजा मारने का प्रयत्न करते हैं। बंदी होने पर ये केंचुए, घोंघे आदि खाते हैं, परन्तु कभी-कभी मेंढक और चूहे पर भी जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। वर्ष के आरम्भ में मादा लगभग एक दर्जन अंडे देती है, जिनकी खोल चीमड़ और कड़ा होती है। कहा जाता है कि इन अंडों में से एक वर्ष बाद बच्चा निकलता है।

टुआटेरा की एक असाधारण विचित्र बात उसकी तीसरी आँख है! कुछ उरंगमों में यह सिर के बीच में मस्तिष्क के ऊपर पाई जाती है। बहुत सम्भावना है कि प्राचीन उरंगम इस नेत्र द्वारा सिर के ऊपर भी देख सकते रहे होंगे। दूसरी असाधारण बात जो टुआटेरा और रंग बदलनेवाली कैमीलियन (गिरगिट) नामक छिपकली में भी पाई जाती है, यह है कि वे अपनी अँगुलियों को दो भागों में विभाजित कर वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। जब कोई चीज़ वे पकड़ते हैं तब अगली टाँग की तीन अँगुलियाँ भीतर और दो बाहर की ओर रहती हैं। परन्तु पिछली टाँग में यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। टुआटेरा और

कैमीलियन के अतिरिक्त अन्य कोई भी छिपकली अपना भोजन पंजों द्वारा पकड़कर नहीं करती।

रंग बदलनेवाली छिपकलियाँ—कैमीलियन

साधारण कैमीलियन उत्तरी अफ्रीका, सीरिया, एशिया माइनर, स्पेन, दक्षिणी भारत, लंका आदि प्रदेशों में पायी जाती हैं। रंग बदलना ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कुछ अन्य छिपकलियों में इनसे भी अधिक रंग बदलने की शक्ति होती है, उदाहरणस्वरूप अमेरिका की अनोलिस नामक छिपकली में। वह वास्तव में कैमीलियन नहीं है, परन्तु वहाँ के निवासी उसके रंग बदलने की शक्ति के कारण ही उसे भी कैमीलियन नाम से पुकारते हैं। एक महाशय लिखते हैं कि उन्होंने स्वयं अनोलिस जाति की एक छिपकली को हरे रंग वाले एक डंठुल पर चढ़ते देखा और जब एक पके पत्ते पर वह दृष्टिगोचर हुई तब वह उसी पत्ते के समान पीली दिखाई दी! देखते ही देखते पत्ता टूट गया और छिपकली नीचे गिर गई। जब वह भूरी मिट्टी के ऊपर आई तब उसका रंग मिट्टी के समान भूरा हो गया! इस चमत्कार में कठिनाई से पाँच मिनट लगे होंगे। साधारणतः देखने में आया है कि वास्तविक कैमीलियन हर परिस्थिति के अनुसार रंग बदल लेती है। प्रकाश तथा तापक्रम में परिवर्त्तन होने से ही नहीं, वरन किसी आकस्मिक घटना से घबड़ा जाने या एकाएक भय खा जाने अथवा क्रोधित होने से भी उसके रंग में परिवर्त्तन आ जाता है।

भारतीय गिरगिट

हमारे बग़ीचों में आम तौर से पाया जानेवाला यह जीव अपने शरीर की रंग-परिवर्त्तन संबंधी विशेषता के नाते सभी के लिए एक सुपरिचित प्राणी है। 'गिरगिट की तरह रंग बदलना' कहावत इसी के ऊपर बनाई गई है। जैसा कि चित्र से सुस्पष्ट है, इस प्राणी की दुम बहुत लंबी होती है और उसके शरीर की खाल पर कड़े छिलके होते हैं। यह जानवर देखने में चाहे भयानक मालूम पड़ता हो, पर वह ख़तरनाक नहीं होता।

कैमीलियन की रंग बदलने की इस परिवर्त्तन की अद्भुत क्रिया को खूब जाँचा-परखा गया है। इस संबंध में कुछ अनुभव अत्यन्त रोचक है। एक समय तीन कैमीलियनों को भिन्न-भिन्न शीशे के बर्तनों में रक्खा गया। पहले बर्तन में हरी पत्तियाँ छोड़ी गईं, दूसरे में भूरी, और तीसरे में सफ़ेद रेत डाली गई। तीनों का रंग एक-सा बना रहा, परन्तु जब उनमें से एक को एक काले डब्बे में बंद कर दिया गया और उसका तापक्रम ७५° रक्खा गया तो कुछ समय पश्चात् उसका रंग हरा हो गया! दूसरे को ऐसे ही डब्बे में जब ५०° तापक्रम में बन्द कर दिया गया, तब उस कैमीलियन का रंग भूरा हो गया। उसी डब्बे में जब आधी ओर प्रकाश कर दिया गया तो उसमें की छिपकली का अर्ध-प्रकाशित शरीर हरा-पीला हो गया और दूसरा आधा भाग भूरा ही बना रहा! ऐसे ही परीक्षणों से विदित हुआ है कि कैमीलियन के शरीर पर हरा या हरा-नीला प्रकाश डालने से तुरन्त ही उसका रंग-परिवर्त्तन होने लगता है, परन्तु लाल या हरे प्रकाश का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह प्रमाणित होता है कि तापक्रम और प्रकाश के रंगों द्वारा ही उसका रंग परिवर्तित होता है। भय, क्रोध और निद्रा द्वारा भी बहुधा देखा गया है कि यह उरंगम हरे रंग का हो गया है। भूखे और निर्बल रहने की दशा में उसकी खाल पर काले धब्बे पड़ जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् शरीर साधारणतः काले धब्बेदार हरे रंग का हो जाता है।

निरीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि कैमीलियन के चर्म में अनेक प्रकार की बहुत-सी छोटी-छोटी गुत्थियाँ अथवा कण होते हैं, जिनके एकत्रित एवं अलग हो जाने से चमड़े का रंग विभिन्न प्रकार का हो जाता है। ये ही कण एकत्रित या अलग-अलग होकर त्वचा का रंग बदलने में सहायक होते हैं।

कैमीलियन की जीभ और अँगुलियों की विशेषता हम ऊपर बता ही आए हैं। अब उनकी आँख पर भी ध्यान

दीजिए। कैमीलियन के नेत्र बहुत बड़े और ऊपर की ओर उभरे हुए होते हैं, तथा उनके ऊपर एक झिल्ली ढकी रहती है, जो दोनों पलकों के मिलने से बनती है। उनमें पुतली के स्थान पर महीन-महीन छिद्र होते हैं। कैमीलियन अपने नेत्रों को चारों ओर घुमा सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके दोनों नेत्र एक ही ओर देखें—एक आँख आगे की ओर देख सकती है तो दूसरी ऊपर या पीछे की ओर। अतः यह जीव ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, बिना गर्दन घुमाए ही देख सकता है! दृष्टि की इस अद्भुत शक्ति का पलकों के सूक्ष्म छिद्रों से सम्बन्धित होना एक रहस्यपूर्ण प्राकृतिक बात है।

कैमीलियन बड़ी आलसी होती हैं। वे बहुत धीरे-धीरे चलती-फिरती हैं। घंटों तक वे वृक्ष की डाल पकड़े लटकी रहती हैं, किन्तु उनकी आँखें सदैव इधर-उधर मक्खियों या किसी अन्य कीड़े की खोज में लगी रहती हैं। आलसी होते हुए भी ये होती हैं बड़ी लड़ाकू। ये लड़ते समय अपने फेफड़ों को वायु से भर लेती हैं, जिसके कारण इनकी आकृति बड़ी दिखाई देती है।

कैमीलियन प्रायः १० इंच से अधिक लम्बी नहीं होतीं, परन्तु मैडागास्कर द्वीप की दो जातियाँ २४ इंच से भी अधिक लम्बी होती हैं। संसार की सबसे छोटी कैमीलियन दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती है, जो केवल ५ इंच ही लम्बी होती है। उसका रंग अत्यन्त सुन्दर होता है। इसके हरे रंग के शरीर पर गहरे लाल रंग के धब्बे बड़े सुहावने लगते हैं। कैमीलियन वर्ग में केवल यही जाति बच्चे देती है, शेष सब अंडे देती हैं। अक्टूबर मास में मादा पेड़ की डालियों से नीचे उतर आती है और एक गड्ढा खोदकर उसमें अंडे देती है। इन अंडों से वसन्त ऋतु तक बच्चे निकलते हैं। इस बीच मादा कैमीलियन पृथ्वी के भीतर बिल में पड़ी रहती है। इस प्रकार वह शीतकाल की ठंड से बच जाती है। शीतकाल के समाप्त होते ही वह फिर वृक्षों पर आकर रहने लगती है। कैमीलियन पकड़कर पाली भी जाती हैं और शीघ्र ही मनुष्य के हाथों से भोजन लेना सीख जाती हैं। कीड़े-मकोड़ों आदि को वे बड़े चाव से खाती हैं। बहुत-से व्यक्ति इन्हें ज़बरन् शर्बत पिलाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु अत्यन्त प्यासी होने पर ही ये उसे ग्रहण करती हैं, अन्यथा नहीं। हाँ, ये जल अवश्य ही पर्याप्त मात्रा में पीती हैं और शीघ्र न मिलने पर निर्बल होकर मर जाती हैं। परन्तु वे किसी बर्तन से पानी नहीं पीतीं। पत्तों पर गिरी हुई ओस की बूँदों से ही ये अपनी तृषा शान्त करती हैं। इसीलिए इनके पिंजड़ों में प्रतिदिन जल छिड़कना अनिवार्य-सा होता है।

घरेलू छिपकलियाँ

घरों में रहनेवाली छिपकलियों की लगभग तीन सौ जातियाँ विदित हैं। ये मुख्यतया गर्म देशों में ही पाई जाती हैं। इनका मुख्य वर्ग 'गैको' कहलाता है, जिसमें की बड़ी से बड़ी छिपकली पन्द्रह इंच लम्बी होती है। साधारणतः घर में रहनेवाली छिपकली चार-पाँच इंच तक लम्बी होती है। इसकी सबसे बड़ी जाति बंगाल, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वीय द्वीपों व दक्षिणी चीन में पाई जाती है। ये छिपकलियाँ कीट-पतिंगों पर ही निर्भर नहीं रहतीं, वरन् छोटी-छोटी चिड़ियों, चमगादड़ों, चूहों तथा छोटी छिपकलियों को भी बड़े आनन्द से खाती हैं!

घरेलू छिपकलियों की जातियाँ एक दूसरे से केवल पैरों की ही रचना में विभिन्न होती हैं। कुछ जातियों में नाख़ून अँगुलियों के छोर पर खाल में घुसे रहते हैं। अन्य कुछ में नख गद्देदार चक्र के पर्त से निकले रहते हैं। कुछ में नख होते ही नहीं, उनके स्थान पर अँगुली के छोर चौड़े हो जाते हैं। और कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनकी अँगुलियों के बीच झिल्ली रहती है, मानों वे तैरने के लिए बनी हों, यद्यपि वे तैरती नहीं (दे० पृ० २७६६ का चित्र)।

गैको वंश की सब छिपकलियाँ घरों में ही नहीं रहतीं; कुछ सूखे मरुस्थल में बालू के अन्दर बिल बनाकर रहती हैं, और कुछ जंगली भागों में भी पाई जाती हैं। वे वृक्षों या नीची झाड़ियों में अथवा पत्थरों या पेड़ों की छाल में दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि के समय बाहर निकल आती हैं। कुछ छिपकलियाँ पर्वतों की चट्टानों में भी पाई जाती हैं, किन्तु प्रायः सभी दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि में शिकार की खोज में इधर-उधर घूमा करती हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जो दिन में घूमा करतीं और रात्रि में सोया करती हैं। घरेलू छिपकलियों को वर्षा ऋतु की रात्रि में बत्ती के समीप छत अथवा दीवार पर असंख्य पतिंगों को बड़ी तेज़ी से हड़प करते समय तो प्रायः सभी ने देखा होगा।

ये छिपकलियाँ हमारे घरों में पता नहीं कब से निवास कर रही हैं! इन निर्दोष जीवों को बहुधा मनुष्य अकारण ही भय और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कहीं-कहीं इनका शरीर पर गिर जाना ही अशुभ माना जाता है और कहीं-कहीं पर लोग इन्हें विषैला भी समझते हैं। उत्तरी अफ्रीका, अरब तथा सीरिया की एक घरेलू छिप-

नई दुनिया की दो अनोखी छिपकलियाँ
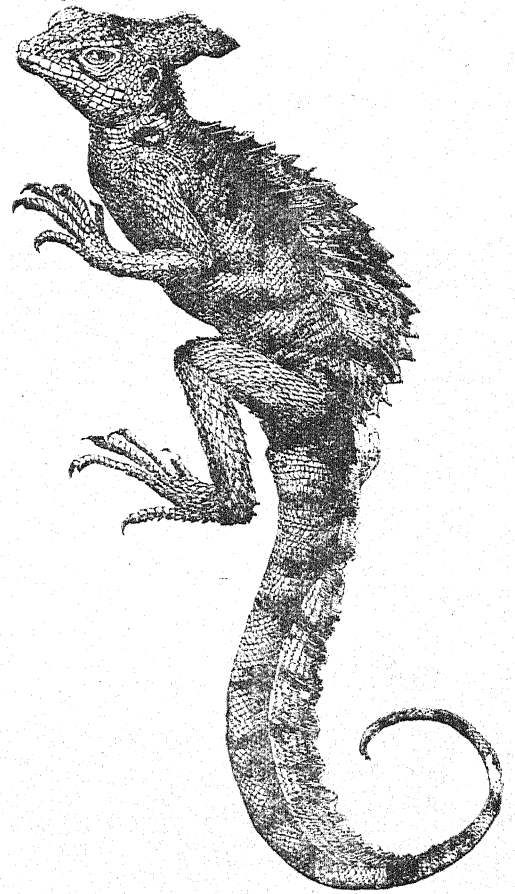
ऊपर के चित्रों में बाईं ओर इगुआना नामक बृहदाकार छिपकली का भयावना-सा रूप दिग्दर्शित है और दाहिनी ओर बैसलिस्क नामक अद्भुत स्वरूपवाली छिपकली का। परन्तु इतनी डरावनी-सी दिखाई पड़ने पर भी ये वस्तुतः ख़तरनाक नहीं होतीं।
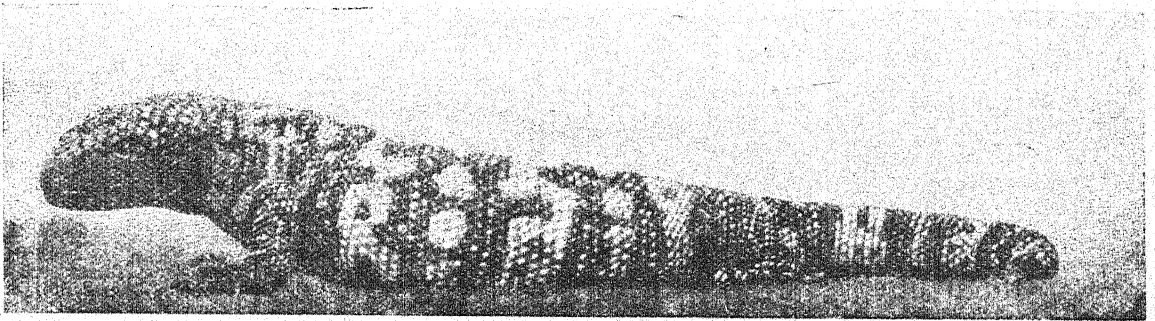
'गिला मॉन्स्टर' नामक विषैली छिपकली

अभी तक छिपकलियों के केवल एक वर्ग की दो जातियों के प्राणियों में ही घातक विष पाया गया है। ये दोनों जातियाँ नई दुनिया ही में मिलती हैं। ऊपर का घिनौना सा प्राणी इन्हीं में से एक जाति का है।
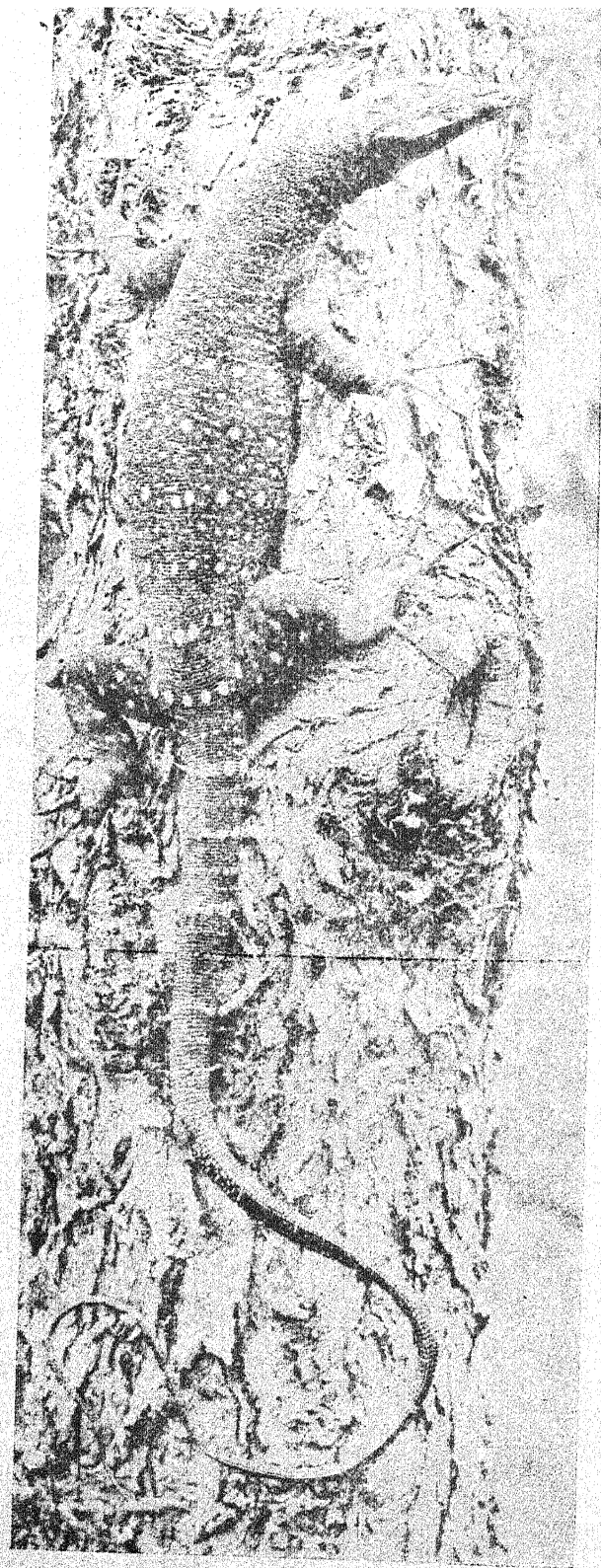
'मॉनीटर' नामक गोह जाति की छिपकली

ये काफ़ी बड़े आकार की होती हैं और वृक्षों पर चढ़कर रहती हैं।

कली को मिस्रवासी कोढ़ उत्पन्न करनेवाली समझते हैं ! इतना ही नहीं, उनकी यहाँ तक धारणा है कि वह अपने पैने दाँतों से फ़ौलाद की गर्डरों या छड़ों को भी हानि पहुँचा सकती है ! किन्तु यह केवल भ्रम या कल्पना मात्र ही है। घरेलू छिपकलियों में एक प्रकार के नलदण्ड होते हैं, जिनकी सहायता से वे चिकने धरातल पर भी चिपक सकती हैं और छत पर उल्टी होकर चलती हैं। बिल-निवासी छिपकलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और डीलडौल में भी ये घरेलू छिपकलियों से निर्बल होती हैं।

मैकोनडी वंश में कई अद्भुत गुणवाली छिपकलियाँ पाई जाती हैं। इनमें से एक छोटी जाति की किन्तु अत्यन्त मोटी और लघु पूँछवाली है, जो ऑस्ट्रेलिया, एशिया, दक्षिणी योरप, तथा दक्षिणी अमेरिका में मिलती है। इसकी अँगुलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और पूँछ में चर्बी की तह जमी रहती है, जिसके कारण भोजन न मिलने पर भी यह जीवित रहती है। इसके चलने की रीति भी बड़ी विचित्र है। यह अपने पैरों के बल शरीर को ऊपर उठाकर अर्धगोलाकार में धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। शेष सभी छिपकलियाँ पेट के बल चलती हैं। ऑस्ट्रेलिया की ऐसी ही एक छोटी तथा मोटी पूँछवाली छिपकली की पूँछ इतनी लघु और चौड़ी होती है कि वह सिर के समान जान पड़ती है ! उसके सिर और पूँछ में इतनी समानता होती है कि देखनेवाला सुगमता से यह नहीं पहचान पाता कि किधर इसका सिर और किस तरफ़ इसकी पूँछ है ! यह छिपकली भी बड़ी आलसी होती है। किसी शत्रु के आने पर भी वह अपने स्थान से नहीं हटती। शीतकाल में महानिद्रा के समय वह खाना-पीना त्याग देती है और पूँछ में मौजूद चर्बी के सहारे ही पड़ी रहती है। अन्य ऋतुओं में यह केंचुओं, छिपकलियों, छोटे सर्पों तथा फलों पर निर्भर करती है। ऑस्ट्रेलियावासी इसे 'निद्रालु छिपकली' के नाम से भी पुकारते हैं।

दीवारों पर रहनेवाली कई जाति की साधारण घरेलू छिपकलियों के पंजों के नमूने

उड़नेवाली छिपकली

छिपकली का दूसरा बड़ा वंश अगेमडी है, जिसमें दो सौ से अधिक जातियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं। इस वंश की कई जातियाँ बहुत ही विचित्र हैं, जिनमें प्रथम स्थान उड़नेवाली छिपकलियों का है। इनकी लगभग बीस जातियाँ मद्रास, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीपों में पाई जाती हैं। ये लगभग दस इंच लम्बी होती हैं और इनकी पूँछ पाँच इंच की होती है। इनकी पिछली छः-सात पसलियाँ धड़ के बाहर दोनों ओर खाल में निकली हुई रहती हैं और उन पसलियों के मध्य की झिल्ली फैलने पर अत्यन्त उपयोगी पैराशूट का-सा कार्य करती है। उसकी ये बढ़ी हुई हड्डियाँ आगे और पीछे की ओर हिल-डुल सकती हैं। जब यह वृक्षों की चोटियों से नीचे की ओर उतरती है या वायु में उड़ते हुए पतिंगों को खाने की चेष्टा करती है तब पर के सदृश दोनों ओर की उसकी पसलियाँ फैल जाती हैं और वह बड़े साहस से हवा में आ जाती है। इस भाँति वह साठ फ़ीट से भी अधिक ऊँचाई तक वायु में उड़ती चली जाती है और फलतः एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर भी पहुँच जाती है। विश्राम करते समय उसकी पसलियाँ तथा खाल काग़ज़ के बन्द होनेवाले पंखे की भाँति तह होकर गर्दन और पीठ के दोनों ओर सिकुड़ जाती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वायु-उड़ान के विकास में इस प्रकार की उड़ान प्रथम स्थान रखती रही होगी। चमगादड़ व
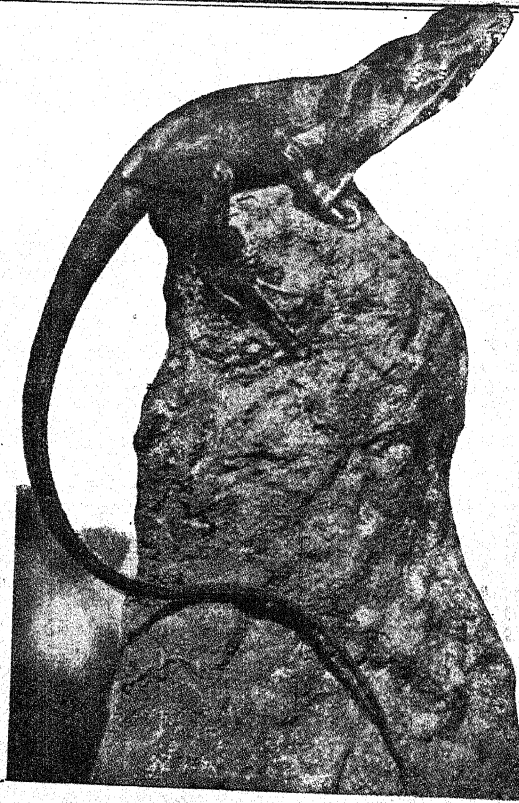
आँस्ट्रेलिया की सुप्रसिद्ध झालरदार छिपकली
चित्र में वह दशा दिग्दर्शित है जब कि झालर फैली नहीं रहती।

इस छिपकली की उड़नेवाली क्रिया में स्पष्ट भेद यह है कि चमगादड़ों के कर पंख के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं, किन्तु उड़ाकू छिपकलियों में पसलियाँ फैली हुई झिल्ली को साधकर उन्हें उड़ने में सहायता प्रदान करती हैं। उनका शरीर गहरा भूरा होता है, जिस पर काले-काले धब्बे और धारियाँ रहती हैं। उनके पर गहरे नारंगी रंग के होते हैं और उनमें कई एक काली धारियाँ होती हैं। अधिकतर ये घने वनों में पाई जाती हैं। तितली के-से रंगीन पर होने के कारण ये रंग-बिरंगे पुष्पों में अनायास ही छिप जाती हैं, जिससे इनके शत्रुओं को इन्हें पकड़ने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है।

झालरदार छिपकलियाँ

अगेमडी वंश में दूसरा विचित्र स्थान ऑस्ट्रेलिया की झालरदार छिपकलियों का है, जिनका कि निवासस्थान इस टापू का उत्तरी भाग और क्वीन्सलैंड है। इस छिपकली के शरीर की बाहरी खाल भी अद्भुत है, किन्तु उड़ाकू छिपकली की अपेक्षा इसकी झिल्ली इसके गर्दन और कण्ठ के चारों ओर बढ़ी हुई होती है और पसलियों के स्थान पर इसकी उपास्थि (Cartilage) की छड़ें ही, जो कि विशेष मांस पेशियों द्वारा खुलती और बन्द होती हैं, उसे फैलाने में सहायक होती हैं। इस विचित्र रचना का तात्पर्य या कार्य उड़ना नहीं है, यह तो एक प्रकार का परदा है जो उसके सम्पूर्ण शरीर को छिपा लेता है! जब यह छिपकली इस झालर को फैलाए हुए अपना पूर्ण मुख खोलकर सिर उठाए खड़ी हो जाती है, तब उसकी रूपरेखा वास्तव में इतनी भयानक हो जाती है कि उसका शत्रु भयभीत होकर उसे छोड़ भागता है! खटका दूर होते ही यह झालर पहले की भाँति गर्दन के दोनों ओर चिपट जाती है। इतना भयावह रूप रखते हुए भी यह किसी को हानि नहीं पहुँचाती। दौड़ते समय यह अपने सिर और पूँछ को ऊपर उठा लेती है। झालर का रंग पीला-लाल धब्बेदार होता है जो कि इसके तीन फ़ीट लम्बे शरीर के सौंदर्य को बढ़ाता है।

ऑस्ट्रेलिया तो आश्चर्यजनक वस्तुओं का घर है। मलोक नामक एक और विशाल कपटी जीव पश्चिमी तथा दक्षिणी द्वीप में पाया जाता है। इस भयंकर-सी प्रतीत होनेवाली छिपकली को वहाँ के निवासी 'कटीला मूस' भी कहते हैं। इसका शरीर सिर से पूँछ तक टेढ़े सींग-जैसे शूल और खुरदरी रक्षक-गाँठों से युक्त होता है तथा इसके सिर पर आध इंच लम्बे काँटे होते हैं। यद्यपि विधाता ने ये शूल उसकी रक्षा के ही हेतु बनाए होंगे, किन्तु यह जीव शत्रु पर इन काँटों से आघात नहीं करता। इसका शरीर देखने में अवश्य भयानक होता है, पर वह खतरनाक नहीं है। प्राचीन प्रकृति-वैज्ञानिक ऑस्ट्रेलिया और वहाँ के चमत्कारी जीवों से अपरिचित ही थे, अन्यथा इस निर्दोष छिपकली के विषय में वे अनेक भयानक कथाएँ न लिख जाते। इसका भोज्य पदार्थ विशेष रूप से चींटियाँ ही हैं, यद्यपि कभी-कभी यह साग-पात भी ग्रहण कर लेती है।

नई दुनिया की अनोखी छिपकलियाँ

पुरानी दुनिया की अगेमडी वंश की छिपकलियों का स्थान नई दुनिया में इग्वैनडी वंश की छिपकलियों ने ले लिया है। इनमें भी भाँति-भाँति के आकार, रंग और लक्षणों से युक्त छिपकलियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ का वर्णन यहाँ पर किया जा रहा है। आश्चर्य की बात है कि इस वंश के दो वर्ग पुरानी दुनिया (अफ़्रीका के निकट मेडागास्कर द्वीप) में अब भी पाए जाते हैं। इस वंश की छिपकलियों में से बहुत-सी ऐसी हैं, जो थोड़ा-बहुत अपना रंग बदल सकती हैं। इनमें से कुछ के रंग तित-

लियों के समान इतने सुन्दर और चटक होते हैं और समीपवर्ती चीज़ों से वे ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि जब तक ये छिपकलियाँ किसी पतिंगे को पकड़ने के लिए उछलतीं नहीं, तब तक वे देखने में आतीं ही नहीं !

प्रसिद्ध बैसलिस्क नामक छिपकली भी इसी वर्ग की एक सदस्य है। इसके विषय में एक कवि ने लिखा है कि इसकी घातक फूँक ठोस संगमरमर में भी प्रवेश कर जाती है और उसकी नाशक दृष्टि स्वस्थ-से-स्वस्थ प्राणी को भी घायल करके मृत्यु का ग्रास बना देती है ! किन्तु यह धारणा या कथन सत्य नहीं। कारण न तो इसकी फूँक ही भयानक होती है और न दृष्टि ही। इसके विषय में कभी इतनी अद्भुत बातें प्रचलित थीं कि कदाचित् किसी कल्पित प्राणी के लिए भी न रही होंगी ! जब इन भयानक कथाओं से परिचित व्यक्ति सर्वप्रथम नई दुनिया में आया होगा और उसकी दृष्टि इस विचित्र रूपवाली छिपकली पर पड़ी होगी तभी उसने समझ लिया होगा कि क्यों वे सब कल्पित बातें इस के विषय में गढी गई होंगी।

बैसलिस्क है तो एक बड़ी सीधी छिपकली, जिसे एक बच्चा भी पकड़ सकता है, पर उसका रूप अवश्य अद्भुत होता है। उसकी दुम और पीठ की खाल झालर की तरह ऊपर की ओर उठी रहती है, मानों उस पर किसी ने मछली का डैना काटकर लगा दिया हो। उसका सिर भी अनोखा होता है—उसके पीछे की खाल ऊपर को उभरी रहती है। पर इसके केवल रूप में ही विचित्रता है, स्वभाव में नहीं। ये छिपकलियाँ शाकाहारी होती हैं और वृक्षों पर ही निवास करती हैं। जल में झुकी हुई डालों पर वे बड़े आनन्द से विश्राम करती हैं और खटका पाते ही फ़ुर्ती से पानी में कूद पड़ती हैं। जल में ये सिर और पूँछ ऊपर निकालकर भली भाँति तैर लेती हैं।

अन्य ध्यान देने योग्य इग्वैनडी छिपकलियों में एक तो वे हैं, जिनके नाक के ऊपर दो छेद होते हैं और दूसरी वे, जिन्हें हम साधारणतः (ग़लती से) 'सींगवाला मेंढक' कहते हैं। ये केलीफ़ोर्निया में पायी जाती हैं। इनके शरीर पर भी चित्ताकर्षक कँटीले खोल होते हैं। किन्तु ये केवल स्थानीय (नई दुनिया के बालू के मैदानों में रहने वाले) मन्द गतिवाले पतिंगों के अतिरिक्त और किसी पर आघात नहीं करतीं। इन छिपकलियों के विषय में एक आश्चर्य-जनक बात प्रसिद्ध है कि जब ये किसी पर आक्रमण करती हैं तब अपनी आँखों के कोनों से कई फ़ीट तक रुधिर जैसे लाल रंग की धार फेंकती हैं ! बचाव का यह कितना अद्भुत उपाय है ! इसी प्रकार बचाव के कई उपाय अन्य जीवों में भी मिलते हैं। अफ़्रीका के कुछ सर्प थूक फेंकते हैं, बहुत-से समुद्री पक्षी अपने नथुनों से दुर्गन्धित तेल ज़ोर से निकालते हैं, कोई-कोई कीड़े-मकोड़े अपने को बचाने के हेतु अपने शरीर से आम्लिक रस निकालते हैं, किन्तु इस छिप-कली के नेत्रों से रुधिर-सी वस्तु फेंके जाने की यह क्रिया सबसे

झालरदार छिपकली का झालर फैलाने की दशा का भयावह स्वरूप
पिछले पृष्ठ के चित्र से तुलना करके देखिए !

निराली है ! इससे छिपकली को कोई हानि होती हो ऐसा नहीं जान पड़ता, किन्तु यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि ऐसे कँटीले शस्त्रधारी जीव को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता क्यों पड़ती है ! सम्भावना है कि कँटीले कवच के साथ-साथ प्रकृति ने युद्ध का यह नवीन साधन भी उसे दिया हो जो कि एक समय इतना उन्नतिशील हो जाय कि उसके कारण भारी कवच भी व्यर्थ प्रतीत होने लगे।

विषैली छिपकलियाँ

अभी तक तो छिपकलियों के केवल एक ही वर्ग के (दो जातियों के) प्राणियों में विष पाया गया है और ये दोनों ही जातियाँ नई दुनिया में मिलती हैं। इनमें से एक जाति मध्य मैक्सिको से लेकर मध्य अमेरिका तक और दूसरी जाति न्यू मैक्सिको और ऐरिज़ोना में पाई जाती है। प्रथम जाति का शरीर अधिक सुगठित होता है और पूँछ छोटी व मोटी होती है, किन्तु दोनों के शरीर पर हल्के नारंगी और काले रंग के धब्बे अथवा धारियाँ होती हैं। ये सुस्त तथा कुरूप छिपकलियाँ दो फ़ीट लम्बी होती हैं। इनके विष से छोटे-छोटे जीव-जन्तु तो शीघ्र मर ही जाते हैं, बहुधा मनुष्य भी काल के ग्रास बन जाते हैं। सर्प के समान इनकी विष-ग्रन्थियाँ नीचे के जबड़े में होती हैं और इनके शरीर की खाल पर माला के-से छोटे-छोटे दाने उभरे रहते हैं, जिसके कारण इन्हें मालाकार भी कहते हैं।

बिना पैरवाली छिपकलियाँ

बिना पैरवाली छिपकलियों का उल्लेख तो हम लेख के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अब हम यहाँ पर इनमें के एक-दो नमूनों का वर्णन भी करेंगे। ये विचित्र छिपकलियाँ सर्प-सी दृष्टिगोचर होती हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी की छिलकेदार पैरवाली छिपकलियों में अगली टाँगें तो बिलकुल लुप्त रहती हैं, परन्तु पिछली टाँगें बहुत छोटी-सी रहती हैं। मादाओं में तो ये बड़ी कठिनता से प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। नरों में ये छिलकों से ढकी रहती है, किन्तु किसी कार्य के योग्य नहीं होतीं। दक्षिणी अफ्रीका की कँटीली और घेरदार दुमवाली छिपकलियों में भी एक ऐसी ही जाति पाई जाती है, जिसके अगली टाँगें नहीं होतीं! ये छिपकलियाँ बीस-बाइस इंच तक लम्बी होती हैं। बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। इनकी दो-तिहाई दुम प्रायः टूट जाती है।

बिना पैरवाली छिपकलियों में सबसे प्रसिद्ध ऐगम्यूडी वंश की वे छिपकलियाँ हैं, जो साधारणतः 'अन्धे कीड़े' अथवा 'आलसी कीट' के नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसा ऊटपटाँग नाम कदाचित् किसी भी प्राणी का न होगा, क्योंकि इनकी दृष्टि भी खासी अच्छी है और ये आलसी भी नहीं हैं! ये अपने बराबर के सर्प के समान ही फुर्तीली होती हैं। इनके चारों पैर पूर्ण रूप से लुप्त रहते हैं और उनका कोई बाहरी चिह्न भी नहीं होता। ये सर्पों की भाँति केंचुली उतारकर फेंकती हैं। इनका आकार गोल अथवा लम्बा होता है, अतः बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। परन्तु सर्प से बिल्कुल विपरीत इनके बाहरी कानों में छेद और चलती हुई पलकें होती हैं।

हमारे देश के घरों की दीवारों पर पाई जानेवाली चर्बीली दुमवाली छिपकली, जिसकी मोटी दुम में एकत्रित चर्बी कई दिनों तक आहार न मिलने की दशा में भी उसका भरणपोषण करने में सहायक होती है।

काँच-सा सर्प

एक और बिना पैरवाली छिपकली, जो अन्धे कीड़े की तरह साँप समझकर कभी-कभी मार डाली जाती है, दक्षिणी-पूर्वी योरप, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और अमेरिका के अतिरिक्त उत्तरी-पूर्वी भारतवर्ष तथा ब्रह्मा में भी पाई गई है। चूँकि यह काँच के समान चिकनी होती है, अतः 'काँच-सर्प' भी कहलाती है। इसकी लम्बाई चार फ़ीट होती है और सारा शरीर चौकोर पीले तथा भूरे रंग के छिलकों से ढका रहता है। अगले पैर तो इसके भी नहीं होते, परन्तु पिछले पैर बहुत छोटे होते हैं, जो कि नोक के समान दिखाई देते हैं। साँप-जैसी भयानक दिखाई देने पर भी यह छिपकली मानव-जाति के लिए

आँस्ट्रेलिया की अद्भुत कवचधारी छिपकली—मलोक

बहुत हितकारक होती है, क्योंकि यह हानि पहुँचानेवाले चूहों, छछूँदरों, कीड़े-मकोड़ों आदि जीवों को खा लेती है। कभी-कभी यह वाइपर जैसे ज़हरीले सर्प को भी मारकर खा जाती है। इस छिपकली की दुम में एक विशेषता यह है कि जब यह अपने को किसी शत्रु के हाथों में या मुख में पाती है तब अपने शरीर को मोड़कर पूँछ का बहुत-सा भाग अचानक शरीर से अलग कर देती है! उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों इसका शरीर काँच के सदृश टूटनेवाला है! इसीलिए इसे 'काँच-सर्प' कहा गया है। एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि यह अपने टूटे हुए भाग को फिर से जोड़ लेती है और यदि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी हो जायँ तो भी वह जीवित रहती है! परन्तु ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया है।

बृहदाकार छिपकलियाँ

संसार की सब छिपकलियाँ छोटी ही नहीं हैं। कुछ तो इतनी बड़ी हैं कि हम बिना देखे उनका ठीक अनुमान कर ही नहीं सकते। बड़ी-बड़ी छिपकलियों की लगभग ३० जातियाँ भारतवर्ष, अफ़्रीका, मलाया और ऑस्ट्रेलिया में पायी जाती हैं। इनको गिरगिटान, बिसखोपरा और गोह कहते हैं। उरंगमों की उन्नति की चरमावस्था के दिनों में प्राचीन समय की बड़ी-से-बड़ी गोह भारतवर्ष में पाई जाती थी और ऑस्ट्रेलिया में छिपकली की एक जाति ठीक तीस फ़ीट लम्बी होती थी! आज की कुछ बड़ी जातियाँ रेगिस्तानों में रहती हैं, किन्तु अधिकांश दलदलवाले मैदानों में रहती हैं। इन छिपकलियों की बड़ी और मज़बूत दुम स्थल पर आक्रमण करने के लिए शस्त्र-सदृश होती है और जल में तैरने के लिए भी वह सहायक होती है। सभी बड़ी छिपकलियाँ मांसाहारी होती हैं। चिड़ियाँ और उनके अंडे, छोटी छिपकलियाँ, मेढक आदि छोटे-छोटे जीव ही इनका आहार हैं। घड़ियाल और मगर के अंडों को भी ये खोज-खोजकर हड़प कर लेती हैं।

गिरगिटों के नाम से तो सभी भारतवासी परिचित होंगे।
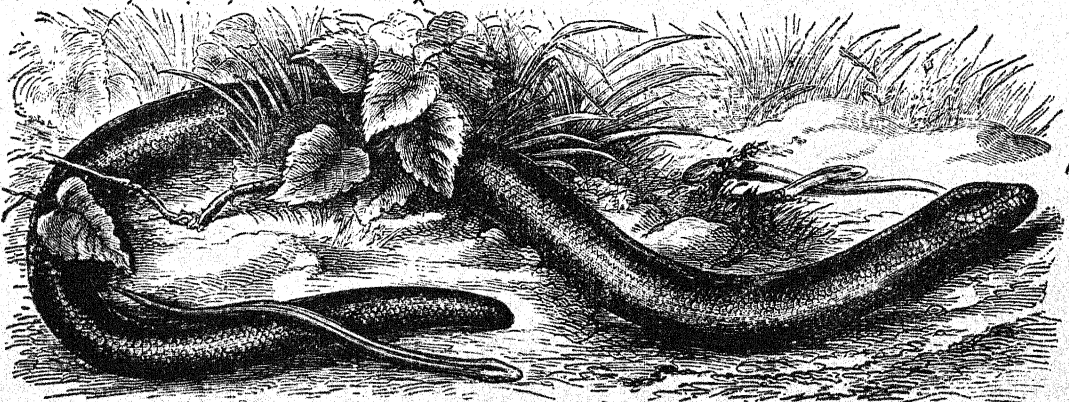
साँप जैसी दिखाई पड़नेवाली बिना पैरवाली छिपकली, जिसे भ्रमवश लोग 'काँच-सर्प' के नाम से पुकारते हैं! यह संकट के समय अपनी दुम को शरीर से अलग कर देती है।

(दाहिनी ओर)
संसार की सबसे बड़ी गोह
यह छिपकलियों की जाति का सबसे बड़ा वर्त्तमान उरंगम है और कमोडो द्वीप में मिलने के कारण 'कमोडो ड्रेगन' के नाम से विख्यात है !

(बाईं ओर)
मलाया और मद्रास प्रान्त में पायी जानेवाली उड़ाकू छिपकली

उनमें रंग बदलने की अपूर्व शक्ति होती है, किन्तु उनकी यह क्रिया केवल घबड़ाने के ही समय होती है। नर गिरगिट बड़ा लड़ाकू होता है और लड़ते समय ही रंग बदलता है। उसकी पूँछ की लम्बाई शरीर से लगभग चौगुनी होती है।

बिसखोपरा स्थलवासी जीव है, परन्तु इस जाति के कुछ जीव स्थल तथा जल दोनों में निवास करते हैं। इसकी लम्बाई सात आठ फ़ीट तक भी होती है। जिस जीव को यह मारता है, उसे खा भी लेता है। बहुत से व्यक्तियों का दृढ़ विश्वास है कि यह उरंगम विषैला होता है, किन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हुई है।

गोह सबसे बड़ी छिपकली है, जो कभी-कभी पन्द्रह फ़ीट तक लम्बी पाई गई है। इसके शरीर पर काँटे नहीं होते, पर खाल खुरखुरी होती है। यह घरों में, पानी में और वृक्षों की डालियों पर रहती हैं। जल में तैरते समय इसके पैर शरीर से चिपक जाते हैं और पूँछ पतवार का काम देती है। यह अपने दाँतों, मज़बूत पंजों और कोड़े-जैसी दुम से हथियारों का-सा काम लेती है। कभी-कभी पकड़ी हुई गोहों ने दुम मारकर मनुष्यों को भी घायल किया है। भारतवर्ष में कुछ गोहें विषैली समझी जाती हैं, परन्तु वैज्ञानिकों को इनके किसी भी अंग में विष नहीं प्राप्त हुआ है, अतः उनकी सम्मति है कि ये विषैले प्राणी नहीं हैं।

पुराने ज़माने में, विशेषकर भारतवर्ष में, गोहों का उपयोग लड़ाई में क़िलों की ऊँची दीवारों पर चढ़ने के लिए भी किया जाता था। इस कार्य के लिए खास तौर से गोहें पाली जाती थीं और उन्हें शिक्षा दी जाती थी। ऐसी सिखाई हुई गोह की दुम में रस्सी बाँधकर उसे दीवार पर छोड़ दिया जाता था और जब वह ऊपर चढ़कर मज़बूती से अपने पंजे जमाकर दीवार के सिरे पर चिपक जाती थी, तब नीचे लटकती हुई रस्सी के सहारे लोग ऊपर चढ़ जाते थे !

गोह अनेक प्रकार का भोजन करती हैं। जीवों पर आक्रमण कर उनका मांस-भक्षण करना ही इनका मुख्य निर्वाह साधन है। चिड़ियों और कछुओं के अंडों को ये बड़ी रुचि से खाती हैं। अंडे को मुख में रखकर ये अपना सिर ऊपर उठा लेती हैं और तब अंडे को तोड़ती हैं, जिससे उसका सार-भाग कण्ठ में चला जाता है। लिडेकर साहब ने लिखा है कि बंगाल की एक गोह ने वर्ष भर में साठ चूहे, छः अंडे, पाँच सेर मांस और चार खरगोश खाए थे !

दुनिया की सबसे बड़ी गोह डच पूर्वीय द्वीप-समूह में मिलती है और 'कमोडो' नाम से पुकारी जाती है। कमोडो नाम के द्वीप में सर्वप्रथम पाई जाने के कारण ही यह इस नाम से प्रख्यात है। सम्भव है, ऐसी बृहदाकार छिपकलियों से ही उन परदार अजगरों की कल्पना चीन के कलाकारों ने की होगी, जो हमें अब भी बहुतायत से वहाँ के चित्रों में दिखाई देते हैं। इस गोह की बड़ी लचीली गर्दन और चिमटे की भाँति फटी हुई लम्बी लपलपाती हुई जीभ अपने भारी और कुरूप शरीर के साथ बड़ी भयंकर जान पड़ती है ! तो फिर क्या आश्चर्य कि इस जीव के बारे में अनेक अपूर्व झूठी कहानियाँ और कहावतें बन गई हों। बाल्यावस्था से ही हम ऐसे काल्पनिक भयंकर अजगरों या ड्रेगनों की कहानियाँ पढ़ते आये हैं।
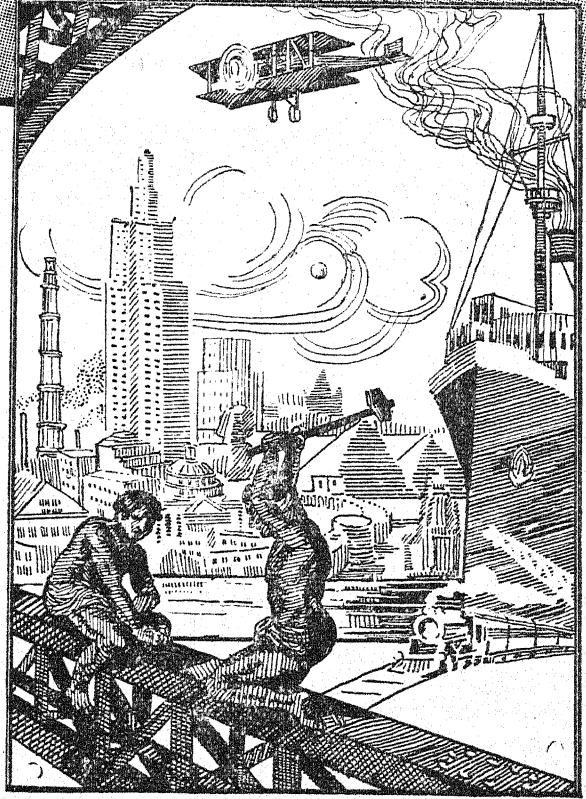
मनुष्य की कहानी
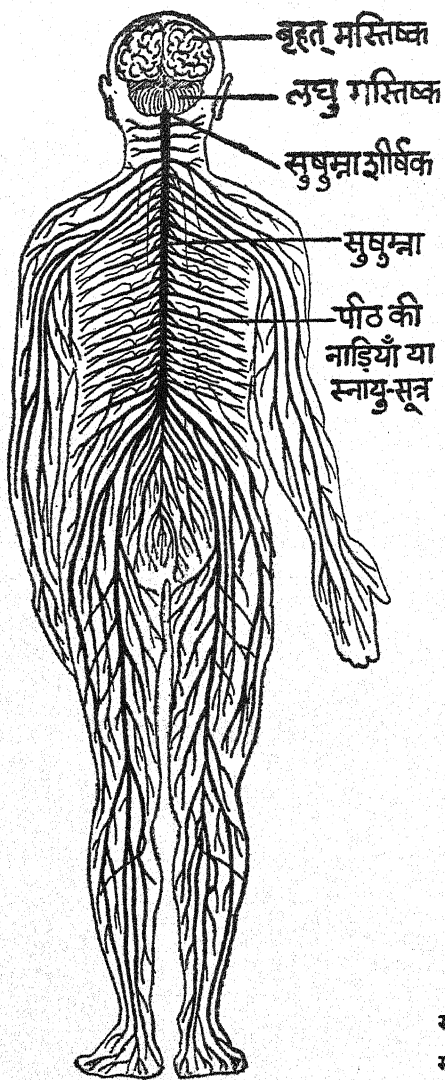
केन्द्रीय स्नायु-संस्थान
(Central Nervous System)

प्रस्तुत मानचित्र में मानवीय स्नायु-संस्थान के तीनों मुख्य भाग—मस्तिष्क, सुषुम्ना और स्नायु-जाल दिग्दर्शित हैं। बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) और लघु मस्तिष्क (Cerebellum) की स्थिति भी प्रदर्शित है। इस मोटे मानचित्र द्वारा आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मस्तिष्क और सुषुम्ना किस प्रकार एक-दूसरे से संबंधित हैं और किस प्रकार सुषुम्ना से निकलकर स्नायुसूत्र या वात-नाड़ियाँ असंख्य शाखा-प्रशाखाओं के रूप में चारों ओर सारे शरीर में फैल गई हैं।
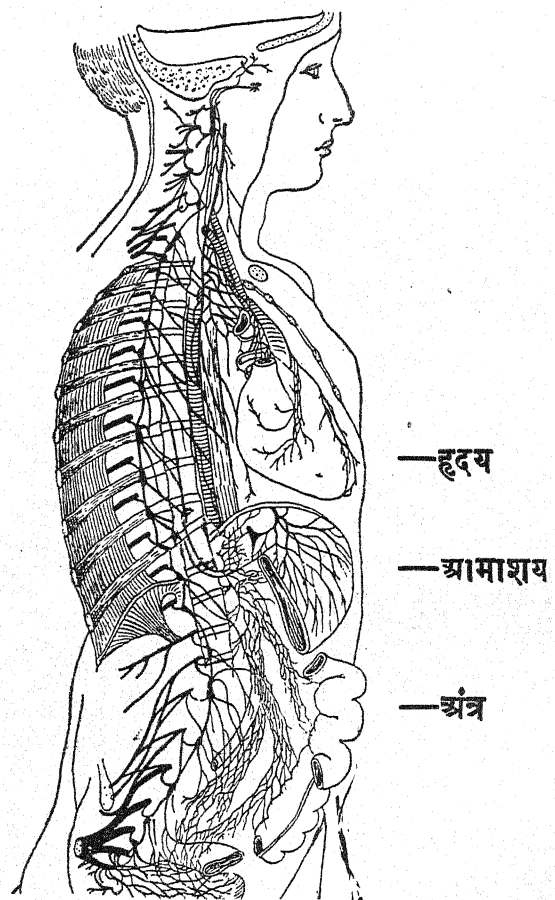
सहानुभूतिक स्नायु-संस्थान
(Sympathetic Nervous System)

मस्तिष्क और सुषुम्ना के अतिरिक्त स्नायु-संस्थान का एक और भी महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे हम सहानुभूतिक अथवा स्वतंत्र स्नायु-संस्थान कहते हैं। इस संस्थान में छोटी-छोटी गाँठों की एक दोहरी माला सम्मिलित है, जो मेरुदंड (शरीर की रीढ़) के दोनों तरफ़ कपाल से लेकर पेड़ू तक फैली हुई है। इस माला की एक लड़ रीढ़ की हड्डी के बाईं ओर और दूसरी दाहिनी तरफ़ पड़ी रहती है। प्रत्येक लड़ में थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्नायु-कोषों के एकत्रित होने से छोटी-छोटी गाँठें बन गई हैं, जो कुछ-कुछ पिंगल वर्ण की होती हैं, अतएव यह भाग 'पिंगल नाड़ीमंडल' भी कहा जाता है। इन गाँठों से कई नाड़ियाँ निकलती हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटकर सभी भीतरी अंगों और रक्त-रगों में जाल के सदृश फैल जाती हैं। इन जालों में से सबसे बड़ा और श्रेष्ठतम जाल वह है, जो पाँचवें से लेकर दसवें गंड से निकलनेवाले सूत्रों के मिलाप से बनता है और जिसको 'सौर जाल' कहते हैं। यह आमाशय के पीछे के गड्ढे में रहता है और इसकी शाखाएँ पेट के सब अंगों और ख़ून की नसों में जाती हैं।

हमारे शरीर-यंत्र का प्रधान संचालक—(१)

स्नायु-संस्थान, उसकी रचना तथा क्रियाएँ

सहानुभूतिक स्नायु-संस्थान

पिछले लेखों में हम शरीर के मुख्य-मुख्य संस्थानों और उनके कार्य करने की रीतियों के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। अब हम एक ऐसे संस्थान के विषय में लिख रहे हैं, जो उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संस्थान की तुलना राज्य के उस सदर मुक़ाम से की जा सकती है, जहाँ से राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के समस्त कार्यों के संचालन का काम किया जाता है। मानवीय शरीर-यंत्र के सभी पुर्ज़े अपना कार्य मिल-जुलकर उन संदेशों द्वारा करते हैं, जो कपाल में सुरक्षित मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी में बन्द सुषुम्ना से शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के क्रियाशील अंगों तक टेलीफ़ोन के तारों की तरह फैली हुई नाड़ियों द्वारा आते-जाते हैं।

मस्तिष्क और सुषुम्ना के अतिरिक्त स्नायु-संस्थान का एक और भी महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे हम सहानुभूतिक अथवा स्वतंत्र स्नायु-संस्थान कहते हैं। इस संस्थान में छोटी-छोटी गाँठों की एक दोहरी माला सम्मिलित है, जो मेरुदंड (शरीर की रीढ़) के दोनों तरफ़ कपाल से लेकर कोख तक फैली हुई है। इस माला की एक लड़ रीढ़ की हड्डी के बाईं ओर और दूसरी दाहिनी तरफ़ पड़ी रहती है। प्रत्येक लड़ में थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्नायु-कोषों के एकत्रित होने से छोटी-छोटी गाँठें बन गई हैं, जो कुछ-कुछ पिंगल वर्ण की होती हैं, अतएव यह भाग 'पिंगल नाड़ीमंडल' भी कहा जाता है। इन गाँठों से कई नाड़ियाँ निकलती हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटकर सभी भीतरी अंगों और रक्त-रगों में जाल के सदृश फैल जाती हैं। इन जालों में से सबसे बड़ा और श्रेष्ठतम जाल वह है, जो पाँचवें से लेकर दसवें गंड से निकलनेवाले सूत्रों के मिलाप से बनता है और जिसको 'सौर जाल' कहते हैं। यह आमाशय के पीछे के गड्ढे में रहता है और इसकी शाखाएँ पेट के सब अंगों और ख़ून की नालियों में जाती हैं। यही कारण है कि आमाशय के ऊपर प्रचंड घूँसा लग जाने से कभी-कभी इस सौर जाल में ऐसा धक्का लगता है, कि कुछ पल साँस लेना भी कठिन हो जाता है।

सहानुभूतिक गाँठों से निकले हुए स्नायु-सूत्रों में से कुछ सुषुम्ना से निकलनेवाली नाड़ियों की शाखाओं से भी मिलते हैं, किन्तु यह संस्थान अपना कार्य अलग करता है। इसी संस्थान की प्रेरणा से हृदय, फेफड़े, आमाशय और आँत जैसे अंगों की स्वाधीन गतियाँ होती हैं। यह उन कार्यों को भी नियंत्रित एवं संचालित करता है, जो मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है। यह संस्थान ख़ून की रगों की दीवारों की स्वाधीन पेशियों की गति को वश में करके रक्त के बहाव को अथवा शरीर के ताप को घटाता-बढ़ाता भी है। अचानक भयभीत होने या चिंता में पड़ जाने से हमारा चेहरा पीला पड़ जाता है, किन्तु ख़ुश होने पर चमक उठता है, यह क्यों ? इसका कारण यह है कि भयभीत होने पर चेहरे में फैली हुई ख़ून की नलियों पर इन स्नायु-सूत्रों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनमें ख़ून कम हो जाता है और ख़ुशी में इसका बिल्कुल उल्टा प्रभाव पड़ता है।

सहानुभूतिक स्नायु-संस्थान कुछ अंश में पाचन, श्वास और ग्रंथियों में रस बनने की क्रियाओं को भी नियंत्रित करता है। इसके विषय में अभी तक बहुत खोज बाक़ी है, लेकिन यह विश्वास किया जाता है कि यह संस्थान इच्छा और वश के बाहर होते हुए भी हमारे भावों से प्रभावित होता है, जैसे कि शोक में डूबे हुए मनुष्य की भूख मारी जाती है। इस संस्थान में भाव स्वयम् उत्पन्न नहीं होते, वरन् मस्तिष्क और सुषुम्ना से भेजे हुए आदेश या संदेश के प्रभाव से ही जाग्रत होते हैं। स्वतंत्र स्नायु-संस्थान के तार वहीं से होकर उन पेशियों, अवयवों या ग्रंथियों

तक पहुँचते हैं, जो मनुष्य की इच्छा के वश में नहीं हैं। यही कारण है कि हम इस संस्थान को स्वतंत्र सहानुभूतिक संस्थान कहना उचित समझते हैं। पर यह कोई अलग नाड़ी-मंडल नहीं है, वरन् मध्यस्थ या केन्द्रीय नाड़ी-मंडल का ही एक बाहरी भाग है।

मानवीय स्नायु-संस्थान अन्य जीवों की तुलना में सबसे अधिक जटिल है और उसने उन्नति भी अधिक की है। मनुष्य अपने डीलडौल के अनुसार संसार के समस्त प्राणियों में अधिक बुद्धिमान् है। उसके मस्तिष्क का बोझ सारे शरीर के बोझ का साठवाँ भाग है, जब कि बड़े सिरवाले हाथी के मस्तिष्क का बोझ उसके शरीर के बोझ से छः सौ भाग से भी कम है! मानव-स्नायु-संस्थान के तीन भाग हैं—मस्तिष्क, सुषुम्ना और वे स्नायु-नाड़ियाँ, जो सुषुम्ना से निकलकर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं। प्रस्तुत लेख में हम प्रत्येक भाग का वर्णन अलग-अलग करेंगे।

मस्तिष्क

मस्तिष्क सारे स्नायु-संस्थान का सरदार, उसका प्रधान केन्द्र तथा शरीर का मुख्य नियंत्रण-अंग है। वह इंजिन के इंजीनियर के तुल्य है। वह विशेषतया एक नर्म पदार्थ से निर्मित्त होता है, अतएव उसे एक हड्डीदार खोपड़ी का बक्स सुरक्षित रखता है। इस हड्डीदार ढाँचे का सबसे कमज़ोर स्थान है आँख के ऊपरी गड्ढे का भाग, जिसकी हड्डी पतली और दुर्बल है। मस्तिष्क की विशेष रक्षा उन तीन झिल्लियों से होती है, जिससे कि वह मढ़ा रहता है। इनमें सबसे भीतरी झिल्ली बहुत पतली और कोमल रहती है, जिसमें छोटी-छोटी धमनियों और शिराओं का घना जाल बिछा रहता है। इन्हीं के द्वारा मस्तिष्क को रुधिर तथा भोजन मिलता हैं। इस झिल्ली का नाम 'अन्तावरण' है। यह मस्तिष्क से इतनी अधिक चिपटी रहती है कि उसे अलग करना बहुत ही कठिन होता है। अन्तावरण के बाहर की झिल्ली पारदर्शी और मकड़ी के जाले के समान कोमल होती है। इस झिल्ली से एक तरल पदार्थ बनता है, जो इसके तथा अन्तावरण के मध्य की तंग जगह में भरा रहता है। यह तरल पदार्थ रुधिर से बनता है, और पानी की गद्दी का-सा काम करता है, जो खोपड़ी की कड़ी हड्डी के दबाव और उछलने-कूदने-जैसी गतियों के धक्कों से भीतरी स्नायविक पदार्थ को बचाये रहती है तथा मस्तिष्क के व्यर्थ पदार्थों को दूर करने में भी सहायक होती है।

सबसे बाहरी झिल्ली चीमड़ और रेशेदार होती है। उसके बाहरी आवरण की ऊपरी सतह खुरखुरी होती है और कपाल के भीतर चिपटी रहती है। तीनों झिल्लियों को मिलाकर आवरण कहते हैं। इनमें सूजन आ जाने से मैनिनजाइटिस (मस्तिष्क-ज्वर) नामक भयानक रोग हो जाता है।

क्या आवश्यक है कि बड़ा मस्तिष्क अधिक बुद्धि का ही द्योतक हो?

एक युवा पुरुष के मस्तिष्क का औसत बोझ लगभग १॥ सेर होता है, किन्तु एक युवती का इससे लगभग ढाई छटाँक कम होता है। यह सत्य है कि बुद्धि बहुत-कुछ मस्तिष्क के भार तथा डीलडौल पर ही निर्भर है, किन्तु यह बात नितान्त सत्य नहीं, कारण ऐसे भी व्यक्ति हुए हैं, जिनमें बड़े मस्तिष्क रहते हुए भी बुद्धि बहुत ही न्यून रही और ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें छोटे मस्तिष्क होने पर भी असाधारण योग्यता देखने में आई है।

गुणी पुरुषों में सबसे भारी मस्तिष्क, जिसका कि अभी तक पता हमें चला है, ऐडवोकेट ब्रूने का था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी विचित्र थी और उसके मस्तिष्क का वज़न १६१ तोला से भी अधिक था। एशिया के गुणवान व्यक्तियों में सर्वप्रथम टुगूची नामक जापानी का मस्तिष्क जाँचा गया था, जो दैहिक गठन-संबंधी विद्या में निपुण था। उसका मस्तिष्क ठीक २ सेर भारी था। रूस के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक तुर्गनेव के मस्तिष्क का बोझ लगभग १४८ तोला था। श्रेष्ठ वैज्ञानिक क्यूवियर का मस्तिष्क ६३ वर्ष की अवस्था में १४६ तोला का पाया गया था। ठीक इसके प्रतिकूल प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता हेल्महोट्ज़ का मस्तिष्क औसत से भी हल्का था। ७३ वर्ष की आयु में भी उसके मस्तिष्क का वज़न ११० तोला ही था! शरीर के अंगों के गुणों तथा कर्त्तव्यों को जाननेवाले प्रसिद्ध जीवविज्ञानवेत्ता गोल्डस के मस्तिष्क का तौल १०८ तोला था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक डौलिन्जर का मस्तिष्क ६४ तोला से कुछ अधिक और सबसे चतुर लेखकों में से एक, एनातोले फ्रान्स, का मस्तिष्क ८५ तोला भर ही भारी था! अपने छोटे मस्तिष्क के अनुसार तो उसे मूर्ख होना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं!

मूर्खों के मस्तिष्क प्रायः औसत से बहुत कम हल्के होते हैं। एक मूर्ख स्त्री के मस्तिष्क का वज़न ३१ तोले से भी कम था! औरंगउटाँग नामक बनमानुस का मस्तिष्क इससे कुछ ही कम वज़नी होता है। मूर्खों में भी मस्तिष्क के बोझ के सम्बन्ध में कई अपवाद मिले हैं। २१ वर्ष की अवस्था में एक मूर्ख का मस्तिष्क हेल्महोट्ज़ के

मस्तिष्क से दूना भारी पाया गया था। रस्टन नामक एक मज़दूर का मस्तिष्क ऐडवोकेट ब्रूने के मस्तिष्क से भी ५ तोला भारी था। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल मस्तिष्क के वज़न को अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। एक और महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि बुद्धि केवल मस्तिष्क पर ही निर्भर नहीं है और मस्तिष्क एक स्नायविक यंत्र मात्र नहीं है, वरन् संचालन-यंत्र और इन्द्रिय-ज्ञान करानेवाला अंग भी है, जो भाँति-भाँति की उत्तेजनाओं को नियंत्रित करता है। उसका डील शरीर की क्रिया-विशेषता पर निर्भर है। घोड़ा सुस्त गेंडे से कहीं अधिक फुर्तीला जन्तु है, इसलिए उसके मस्तिष्क का गति से सम्बन्ध रखनेवाला भाग बहुत बड़ा होता है। भूमि के अन्दर रहनेवाले छछूँदर, सेई आदि जीवों में बन्दर के संपूर्ण मस्तिष्क से भी अधिक विशाल सूँघनेवाले क्षेत्र पाए जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जिस जाति ने जितनी अधिक उन्नति की है उसका मस्तिष्क उतना ही अधिक भारी होता है और उस जाति में विद्वान् व्यक्तियों के सिर मूर्ख व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े होते हैं। किन्तु इसमें भी कुछ असाधारण अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रवेत्ता शोपेनहार का सिर असाधारणतया बड़ा था। उसका घेरा लगभग ६० सेंटीमीटर था। इसके विपरीत रैफेल जैसे प्रतिभावान पुरुष के सिर का घेरा केवल ५२·८ सेंटीमीटर ही था। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धिमान् मस्तिष्क सदैव बड़े ही नहीं होते।

मनुष्य के मस्तिष्क का शीर्ष भाग
बीच की विभाजक दरार और ऊपरी सतह पर पड़ी हुई खाइयों पर ग़ौर कीजिए!

क्या दिमाग़ी काम से सिर फूल जाता है?

मस्तिष्क शरीर का एक ऐसा अंग है, जो अभ्यास करने से बढ़ता है। जिस प्रकार लगातार अभ्यास से पेशियाँ बड़ी हो जाती हैं, उसी तरह दिमाग़ी काम करने से मस्तिष्क बढ़ता जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक गैटे में हमें मिलता है। गैटे का सिर अन्तिम समय तक बढ़ता ही चला गया था। ६५ वर्ष की आयु में भी वह नव उमंग से ओत-प्रोत था और तब उसने विश्व-साहित्य में सबसे आश्चर्यजनक काव्य की रचना की थी। जब वह ८० वर्ष का हुआ, तब उसने और भी भावपूर्ण पुस्तकें लिखीं। ८२ वर्ष की आयु में, मृत्यु से कुछ सप्ताह पूर्व, उसने अपनी 'फॉस्ट' नामक अंतिम स्मरणीय पुस्तक पूरी की थी! ऐक्सनर नामी जीवतत्ववेत्ता ने गैटे की १६६ तसवीरों से पता लगाया था कि उसके सिर का घेरा २४ से ३० वर्ष की आयु में ६४ सेंटीमीटर था, ३० से ५० के बीच में वह बढ़कर ११० सेंटीमीटर हो गया था तथा ७० वें वर्ष में ११२ और ८० वें वर्ष में ११६ सेंटीमीटर तक पहुँच गया था! इससे स्पष्ट है कि बाक़ी शरीर की वृद्धि के रुक जाने पर भी मस्तिष्क बहुत दिनों तक बढ़ सकता है। मस्तिष्क ६० से ७० की आयु में सबसे उत्तम दशा को प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः मनुष्य ४५ वर्ष की उम्र के पश्चात् अध्ययन करना बंद कर देते हैं, जिससे वह कड़ा पड़ जाता है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ४० से ५० वर्ष की आयु में मस्तिष्क की सबसे अधिक उन्नति होती है। यदि कोई व्यक्ति इस आयु में अध्ययन करना बन्द कर दे तो उसका मस्तिष्क बूढ़ा होने लगता है। यह सच है कि शरीर को वृद्धावस्था प्राप्त करने से कोई रोक नहीं सकता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने मस्तिष्क को अभ्यास द्वारा बूढ़ा होने से रोक सकता है।

बृहत् या बड़ा मस्तिष्क

मस्तिष्क के मुख्य चार भाग हैं—बृहत् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, सेतु या पुल और सुषुम्ना-शीर्षक। बृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है, जो कपाल के ऊपरी व अगले भाग में स्थित है। यह शेष मस्तिष्क को ढके रहता है। इसमें मस्तिष्क के समस्त भार का $\frac{?}{?}$ भाग सम्मिलित है। यह दो इञ्च गहरी एक दरार द्वारा दो बराबर-बराबर भागों में विभाजित है। ये भाग दाहिने और बायें गोलार्द्ध कहलाते हैं। दोनों गोलार्द्धों को विभाजित करनेवाली दरार के नीचे एक श्वेत स्नायु-पदार्थ रहता है, जो महासंयोजक कहलाता है। बृहत् मस्तिष्क में बाहर की ओर एक धूसर पदार्थ की मोटी तह होती है, जिसके भीतर एक श्वेत पदार्थ इस प्रकार भरा रहता है, जिस तरह फलों में छिलके के भीतर गूदा होता है। यह धूसर भाग स्नायु-कोषों से निर्मित है और उसका भीतरी भाग उन स्नायु-सूत्रों से बनता है जो बाहरी भाग से निकलकर उसमें प्रवेश करते हैं। इस धूसर क्षेत्र का प्रत्येक भाग भिन्न-भिन्न कार्य्यों को करता और अपने-अपने विशेष कार्य का केन्द्र कह-

लाता है। इनका विस्तृत वर्णन हम आगामी लेख में करेंगे। यहाँ पर हम केवल यही बता देना चाहते हैं कि बृहत् मस्तिष्क ही बुद्धि तथा ज्ञान का केन्द्र है। इसके सहारे ही हम सोचते, सीखते, बातों को स्मरण रखते और अपनी समीपवर्ती वस्तुओं का निरीक्षण कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऊपर से देखने में बृहत् मस्तिष्क पर बहुत-सी घाइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि उसकी ऊपरी सतह कहीं तो उभरी है और कहीं गहरी। इसका कारण यह है कि उसका बाहरी धूसर भाग, जो वल्क कहलाता है, शिकनदार होता है। इसी वल्क से हमें अधिक सरोकार है। मुड़ाव के कारण उसकी सतह अधिक बढ़ जाती है, यद्यपि घनत्व उतना अधिक नहीं बढ़ता। इससे मस्तिष्क में रुधिर की अधिक मात्रा प्रवेश कर जाती है और स्नायु-सूत्र सुगमता से वल्क की भीतरी सतह तक पहुँच जाते हैं। मस्तिष्क के सबसे भीतरी आवरण तक असंख्य रुधिर-नलिकाएँ फैली हुई हैं।

आप भूल न गए होंगे कि अन्तावरण की झिल्ली बृहत् मस्तिष्क की प्रत्येक घाई में घुसी रहती है। बन्दर, कुत्ते, खरगोश आदि पर किए गए प्रयोगों और मनुष्य के मस्तिष्क के निरीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि बृहत् मस्तिष्क ही बुद्धि, इच्छा, भाव और इंद्रियज्ञान का प्रधान केन्द्र है। उसके क्षत-विक्षत हो जाने से मानसिक योग्यता नष्ट हो जाती है। बृहत् मस्तिष्क ही से पेशियों की सारी गतियाँ उत्पन्न होती हैं और बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है।

तीन हज़ार केनिया-निवासियों पर लगातार प्रयोग करने के पश्चात् और उनमें के १०० मनुष्यों के मस्तिष्कों का मृत्यु के पश्चात् निरीक्षण करके डाक्टर विन्ट ने यह ज्ञात किया कि गोरे मनुष्यों की अपेक्षा उन काले मनुष्यों के मस्तिष्क में धूसर पदार्थ १५ फ़ीसदी कम होता है। इसी कारण इन दोनों जातियों की बुद्धि में इतना अन्तर है। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि हम मस्तिष्क की इन शिकनों को सीधा करके उनकी बाहरी तह को फैला सकें तो वही मस्तिष्क सबसे अधिक बुद्धिमान् पाया जायगा जिसका वल्क सबसे अधिक क्षेत्र घेरेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की बुद्धि का सम्बन्ध उसके मस्तिष्क के धूसर पदार्थ से ही है।

सम्भव है कि भविष्य में स्त्रियाँ पुरुषों की अगुआ बन!

ऊपर हम यह बता चुके हैं कि पुरुष से स्त्री का मस्तिष्क हलका होता है। स्त्रियों का मस्तिष्क छोटा और हलका या कम घाइयोंवाला होता है। सभ्यता के आरम्भ से ही पुरुष सदैव शत्रुओं से अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा करने तथा जीविका कमाने के हेतु कठोर परिश्रम करता रहा है, इसलिए उसे स्त्रियों की अपेक्षा, जिनको कि सदैव हलका व साधारण काम ही करना पड़ा है, अपने मस्तिष्क से अधिक कार्य लेना पड़ा है। स्त्री अधिकतर घर में ही रहती रही है और पुरुष इधर-उधर घूमता रहा है। मानव-समाज की जो दशा सहस्रों वर्ष पूर्व थी, आज भी बहुत-कुछ वैसी ही है। परन्तु अब से दो-चार सौ वर्ष बाद क्या होगा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नर और नारी दोनों में ही काफ़ी परिवर्त्तन हो रहा है। आधुनिक महिलाएँ पुरुषों के विशेष कार्यों में प्रतिदिन भाग ले रही हैं। वर्त्तमान महायुद्ध में महिलाओं ने रोगियों की सेवा से लेकर लॉरियाँ दौड़ाने, वायुयान उड़ाने, यंत्र बनाने और उनको युद्ध में कार्यान्वित करने में भी अपनी शक्ति का परिचय दिया है। मस्तिष्क एक नर्म और नम्य पदार्थ है। जिस तरह एक चतुर कारीगर के हाथों नर्म मोम अनेक नए रूपों में परिवर्त्तित हो सकता है, उसी भाँति सम्भव है कि एक समय ऐसा भी आए कि जब स्त्रियों के मस्तिष्क की घाइयाँ पुरुषों के मस्तिष्क की घाइयों से बढ़ जाएँ और वे पुरुषों से बुद्धि में बाज़ी मार उनसे पीछे रहने के बजाय उनकी अगुआ बन जाएँ।

लघु या छोटा मस्तिष्क

लघु मस्तिष्क आकार में बड़े मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। यह उसके नीचे पीछे की ओर दबा रहता है। इसमें भी दो गोलार्द्ध होते हैं और इसका धूसर पदार्थ श्वेत पदार्थ को ढके हुए रहता है। उसके ऊपर भी सीताएँ या घाइयाँ होती हैं, जो बृहत् मस्तिष्क की सीताओं से अधिक गहरी और पास-पास होती हैं। लघु मस्तिष्क की शिकनें छोटी और अधिक समानान्तर होती हैं। इसमें भी बृहत् मस्तिष्क को ढके रहने वाली तीनों झिल्लियाँ मौजूद हैं। यह मस्तिष्क भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। यह चलने-फिरने, उछलने-कूदने, तैरने और बोझ उठाने संबंधी गतियों को ठीक रखता है। पेशियों की गति ठीक न रहने पर शरीर अपनी समता और समतुलन-शक्ति खो सकता है। शराबी का लघु मस्तिष्क नशे से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह (शराबी) लड़खड़ाने लगता है। जब बिना किसी कारण के कोई व्यक्ति लड़खड़ाने लगता है अथवा ठीक-ठीक नहीं चल पाता तो डॉक्टर का ध्यान लघु मस्तिष्क की ओर ही आकर्षित होता है!

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लघु मस्तिष्क में इच्छाधीन गतियाँ नहीं उत्पन्न होतीं। इसमें केवल पेशियों की गतियों को सम रखने की शक्ति होती है। लघु मस्तिष्क
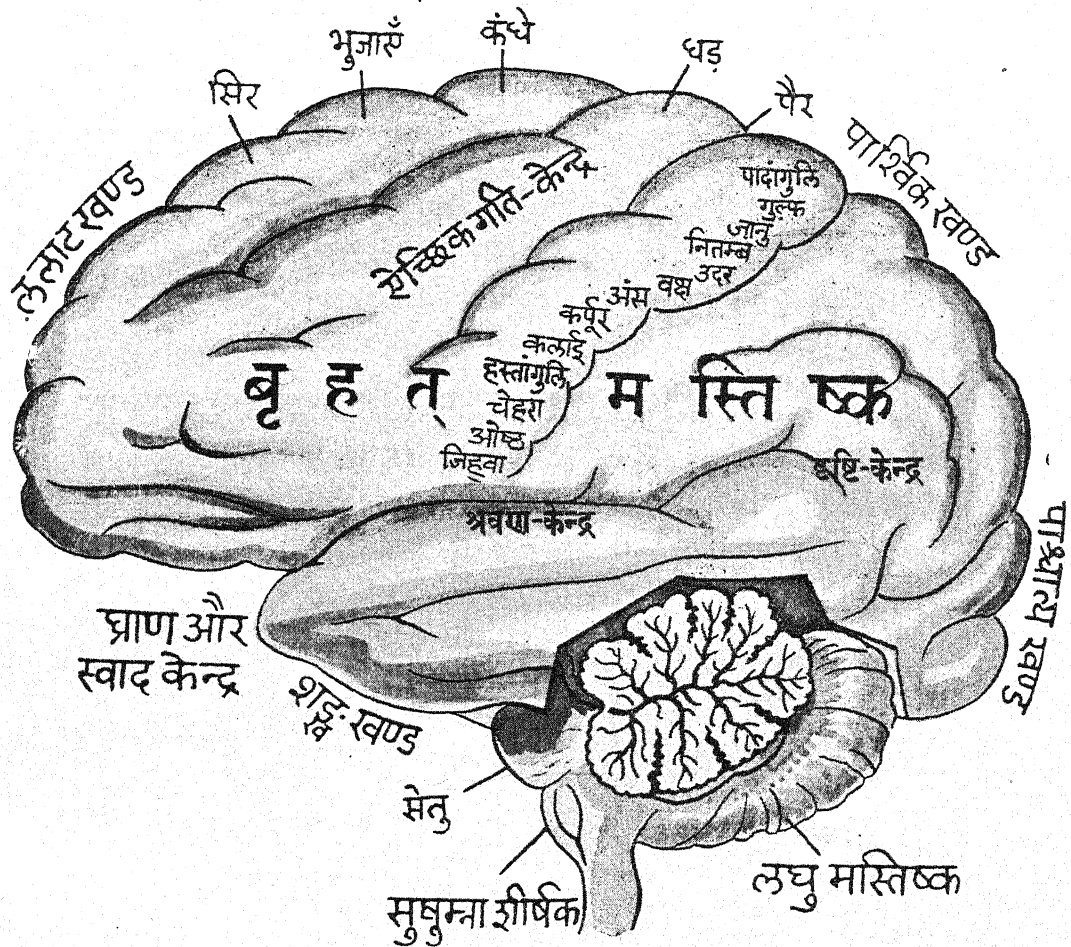
प्रस्तुत मानचित्र में मानव-मस्तिष्क की बाजू की ओर से दिखाई पड़नेवाली आकृति तथा उसके विविध भाग दिग्दर्शित हैं। इसके द्वारा बृहत् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना-शीर्षक आदि की स्थिति और आकार-प्रकार की मोटे तौर से बहुत-कुछ जानकारी आप पा सकेंगे। मस्तिष्क के इन प्रधान विभागों के अतिरिक्त चित्र में वे प्रमुख खण्ड भी दिग्दर्शित हैं, जिनमें सुविधा के लिए उसे विभाजित कर दिया गया है, और साथ ही भिन्न-भिन्न अंग संबंधी वे केन्द्रस्थल भी सूचित किए गए हैं, जहाँ से उन विशेष अंगों की क्रियाओं का नियंत्रण होता है।

का दाहिना भाग बृहत् मस्तिष्क के बाएँ भाग का और बायाँ भाग उसके दाहिने भाग का सहायक होता है। अतएव शरीर के दाहिने भाग की गतियों का लघु मस्तिष्क के दाहिने भाग से व बाएँ भाग की गतियों का उसी मस्तिष्क के बाएँ भाग से सम्बन्ध होता है।

सेतु और सुषुम्ना-शीर्षक

लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाता हुआ, सामने की ओर पुल के मेहराब की भाँति मुड़ा हुआ-सा, श्वेत रंग का एक चौड़ा स्नायविक भाग होता है, जिसे सेतु या पुल कहते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण नाड़ी-सूत्र आकर मिलते हैं। मस्तिष्क का सबसे पिछला भाग सुषुम्ना-शीर्षक कहलाता है, जो सेतु के पीछे खोपड़ी के अंदर रहता है और मस्तिष्क को सुषुम्ना से मिलाता है। यह स्नायविक पदार्थ से निर्मित्त एक गोलाकार अंग है और मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच रहता है। इसीके निचले भाग से सुषुम्ना आरम्भ होती है। मस्तिष्क के अन्य भागों में धूसर पदार्थ बाहर होता है और श्वेत पदार्थ भीतर, पर सुषुम्ना-शीर्षक में श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ अन्दर होता है।

मस्तिष्क के अन्य भागों से जितनी नाड़ियाँ निकलती हैं, उससे कहीं अधिक नाड़ियाँ इस एक इंच लम्बे अंग से निकलती हैं, साथ ही जितने स्नायु-सूत्र सुषुम्ना से निकल-कर मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं, वे सभी इसमें होकर ही जाते

हैं। सुषुम्ना-शीर्षक में से ही स्नायु-सूत्र एक ओर से दूसरी ओर को पार करके निकलते हैं। बृहत् मस्तिष्क के दाहिने गोलार्द्ध से आए हुए स्नायु-सूत्र सेतु के मध्य भाग की राह से सुषुम्ना-शीर्षक के बायें हिस्से में से निकलते हुए शरीर के बायें भाग की पेशियों तक पहुँचते हैं और बायें गोलार्द्ध से आए हुए स्नायु-सूत्र सुषुम्ना के दाहिने भाग में से होते हुए शरीर के दाहिने भाग की पेशियों तक पहुँचते हैं। इसी कारण शरीर के दाहिने अंग मस्तिष्क के बायें भाग द्वारा नियंत्रित होते हैं और बायें अंग दाहिने भाग द्वारा। यदि दाहिने गोलार्द्ध में कोई खराबी आ जाती है तो शरीर के बायें भाग में लकवा मार जाता है तथा बायें गोलार्द्ध में खराबी हो जाने से शरीर के दाहिने भाग की इच्छाधीन गतियाँ रुक जाती हैं।

सुषुम्ना-शीर्षक भी एक बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। यह जीवन को चलानेवाली कई आवश्यक क्रियाओं का केन्द्र-स्थान है। साँस व हृदय की गतियाँ, भोजन-पचन तथा शरीर में रक्त-संचार की क्रियाएँ, इसी के आज्ञानुसार एवं इसी के द्वारा होती हैं। इस मार्मिक अंग में किंचित्मात्र आघात पहुँचने से या कोई रोग होने से प्रचंड लकवा मार सकता है और इसके नष्ट होने से शीघ्र ही मृत्यु होने की संभावना होती है।

वात-नाड़ियाँ और नाड़ी-कोष

नाड़ियाँ पतले-पतले स्नायु-सूत्रों के एकत्रित रज्जुओं की-सी होती हैं, जो टेलीफ़ोन या टेलीग्राफ़ के तारों की भाँति स्नायविक आदेशों को शरीर भर में पहुँचाती हैं। इन्हीं स्नायु-सूत्रों की सहायता से मस्तिष्क को बाहरी सूचनाएँ मिलती हैं और उन्हीं के सहारे भिन्न-भिन्न अंगों की पेशियों तक प्रेरणाएँ और आदेश आते हैं। स्नायु-सूत्र दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की पेशियों को संदेश पहुँचाते हैं तथा जिनकी प्रेरणाओं से ही पेशियों में उचित गतियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसे सूत्रों को गति-सम्बन्धी या चालक स्नायु कहते हैं। चूँकि ये स्नायु मस्तिष्क के केन्द्रों से किसी पेशी या गिल्टी तक आते हैं, अतएव इन्हें केन्द्रव्यापी स्नायु भी कहते हैं। दूसरे वे हैं जो मस्तिष्क की ओर जाते हैं और दुःख-सुख, सर्दी-गर्मी आदि की समवेदनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। इन्हें संवेदनिक या केन्द्रगामी स्नायु भी कहते हैं। कुछ स्नायु केवल संवेदनिक ही और कुछ केवल चालक ही होते हैं, किन्तु अधिकांश स्नायु मिश्रित होते हैं, जिनमें दोनों प्रकार के सूत्र रहते हैं। वे दोनों ओर प्रेरणाएँ ले जा सकते हैं।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र से यदि हम धूसर पदार्थ को देखें तो वह स्नायु-कोषों से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है। स्नायु-कोषों की भी रचना बहुत महत्वपूर्ण है। उनके बिलकुल बीच में जीवोज और उसके मध्य भाग में मींगी होती है। कोषों से कई शाखाएँ निकली रहती हैं, और उन शाखाओं से कई प्रशाखाएँ प्रस्फुटित होती हैं, जो एक दूसरे से उलझी रहती हैं। किन्तु एक शाखा ऐसी होती है, जिसके केवल अंत के भाग से ही शाखाएँ निकलती हैं। यह बहुत लम्बी होती है और इसको ही स्नायु-सूत्र कहते हैं।

इन्हीं भूरे रंग के स्नायु-कोषों से प्रस्फुटित स्नायु-सूत्रों से श्वेत पदार्थ बना होता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि स्नायु-संस्थान कोषों का ही एक समूह है, जिसमें सारा कार्य स्नायु-कोषों द्वारा ही होता है। स्नायु-सूत्र बंधक तंतु के सहारे एक-दूसरे से भली-भाँति मिले एवं बँधे रहते हैं।

मस्तिष्क की नाड़ियाँ

मस्तिष्क के निचले भाग से नाड़ियों के बारह जोड़े निकलते हैं, जो छोटे-छोटे छेदों में होकर खोपड़ी से बाहर आ जाते हैं और तब ज्ञानेन्द्रियों या पेशियों की खाल में बिखर जाते हैं। इनमें से बहुत-सी नाड़ियाँ संवेदनिक हैं और कुछ चालक तथा कुछ दोनों के मिश्रण-सी हैं। इनकी संख्याओं को सामने से पीछे की ओर गिनते हैं। इनका कार्य हम नीचे बता रहे हैं और पृष्ठ २७८३ के चित्र में इनके उद्‌गम-स्थान दिखाए गए हैं।

इन वात-नाड़ियों का पहला जोड़ा गन्ध से सम्बन्ध रखता है और इसके सूत्र नाक के भीतर श्लैष्मिक झिल्ली में जाते हैं। दूसरा जोड़ा देखने की नाड़ियों का है, जो नेत्र के गोले तक जाता है। तीसरा जोड़ा आँख की गति से सम्बन्धित है। इसके सूत्र आँख के गोले को हिलानेवाली अधिकांश पेशियों में तथा पुतलियों को सिकोड़नेवाली पेशियों में प्रवेश करते हैं। इसके स्नायु चालक हैं। चौथा जोड़ा भी आँख की उस पेशी में जाता है, जिससे आँख का गोला नीचे तथा बाहरी ओर घुमाया जाता है। पाँचवाँ जोड़ा बड़ी नाड़ियों का है, जिसकी तीन प्रधान शाखाएँ हैं, जिनमें से एक संवेदनिक है और आँख, नाक, मुँह, दाँत, गाल के समीपवर्त्ती भागों और जीभ पर फैली हुई खाल में समाप्त हो जाता है। इस स्नायु से हमें चेहरे, दाँत आदि के दर्द का बोध तथा स्वाद का अनुभव होता है। शेष दो शाखाएँ चालक स्नायु की हैं और उन पेशियों तक जाती हैं, जो भोजन चबाते समय जबड़ों को घुमाती हैं।
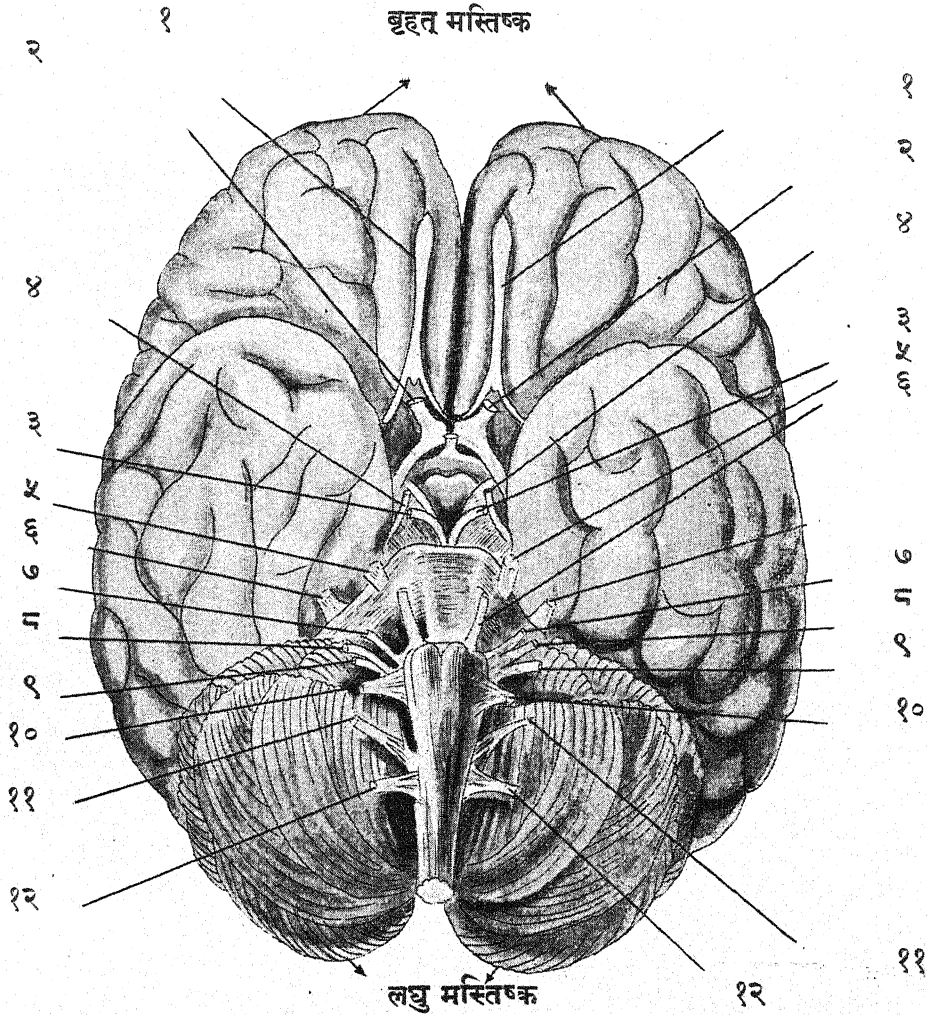
प्रस्तुत चित्र में वात-नाड़ियों के उन बारह जोड़ों के उद्गम-स्थल दिखाए गए हैं, जो मस्तिष्क के निचले भाग में से निकलकर क्रमशः विविध अंगों तक जाते हैं। प्रत्येक जोड़ा चित्र में विशिष्ट संख्याओं द्वारा निर्दशित है, उदाहरणार्थ नं० १ जोड़ा घ्राण-नाड़ियों का है। शेष नाड़ियों के परिचय के लिए लेख का मैटर देखिए।

छठा जोड़ा नेत्र की उस पेशी तक जाता है, जो आँख के गोले को बाहरी ओर घुमाता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्नायु के तीन जोड़ों का सम्बन्ध आँख की पेशियों से है। सातवाँ जोड़ा चेहरे की पेशियों में अपने सूत्र फैलाता है, जिससे चेहरे की पेशियों की गति होती है। आठवाँ जोड़ा सुनने से सम्बन्ध रखता है। इसके सूत्र कान के भीतरी भाग में जाते हैं। नवें जोड़े का सम्बन्ध गले से है। इसकी एक शाखा, जो कि सांवेदनिक है, जीभ के पिछले भाग में फैली होती है। इससे भी हमें स्वाद का बोध होता है। इसकी दूसरी शाखा चालक है और कंठ की पेशियों को संचालित करती है। यह भोजन निगलने में सहायक होती है। दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित स्नायुओं का है। इसके सूत्र कंठ, हृदय, फेफड़े, आमाशय और यकृत तक जाते हैं। ग्यारहवाँ जोड़ा चालक स्नायुओं से निर्मित है और गर्दन की कुछ पेशियों की गतियों से सम्बन्धित है। बारहवाँ जोड़ा भी चालक स्नायुओं का है और जीभ के नीचे की पेशियों में अपने सूत्र भेजता है।

सुषुम्ना

सुषुम्ना स्नायविक सूत्रों की एक लम्बी सुकुमार रज्जु है। यह मस्तिष्क के पिछले भाग, सुषुम्ना-शीर्षक, से प्रारम्भ होकर रीढ़ की हड्डी के भीतर ही भीतर उसके अंत तक चली जाती है। एक बड़े छिद्र से होकर वह मस्तिष्क के बाहर आती है। इसकी मोटाई एक साधारण उँगली के लगभग और लम्बाई लगभग अठारह इंच के होती है।
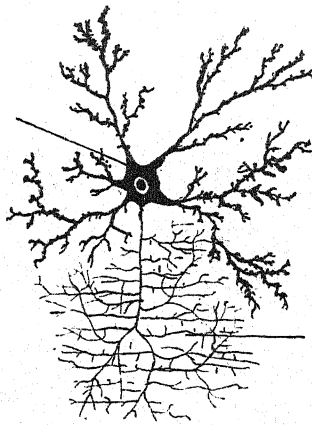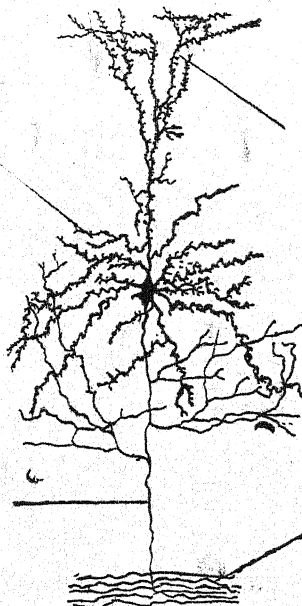
दो प्रकार के स्नायु-कोष

ऊपर एक लघुसूत्रीय और नीचे एक दीर्घसूत्रीय कोष दिग्दर्शित है। इन कोषों की रचना बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा कि चित्र से सुस्पष्ट है, उनके मध्यभाग में केन्द्र या मींगी स्थित है और आसपास अनेक शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकली हैं, जो एक-दूसरे से उलझी हुई हैं। इनमें एक शाखा सबसे लंबी और सीधी दिखाई देती है। यही मुख्य स्नायु-सूत्र है। यदि हम मस्तिष्क के धूसर पदार्थ को सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखें तो हमें उसमें ऐसे असंख्य स्नायु-कोष दिखाई देंगे। ये कोष निरन्तर बढ़ते-बिगड़ते रहते हैं।

यदि हम इसके आड़े कटे हुए भाग को देखें तो वह आकार में चपटी-सी तथा दाहिने-बाँयें भागों में दो तंग खाइयों द्वारा विभाजित दृष्टिगोचर होगी और दोनों भागों के बीच में उसमें एक शून्य-सा स्थान दिखाई पड़ेगा। यह पोला स्थान सुषुम्ना के बीच की उस नली का होता है, जो मस्तिष्क से मिली रहती है। सुषुम्ना में उसी भाँति के स्नायविक पदार्थ पाए जाते हैं जैसे मस्तिष्क में होते हैं। किन्तु मस्तिष्क के विपरीत इसमें श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ भीतर होता है। श्वेत पदार्थ धूसर को पूर्ण रूप से घेरे रहता है और इसके बाहर वही तीन आवरण होते हैं, जो मस्तिष्क में रहते हैं। सफ़ेद भाग में सूत्र होते हैं और धूसर भाग में स्नायु-कोष। ये सूत्र मस्तिष्क के विविध भागों से आकर भिन्न-भिन्न भागों को जाते तथा मस्तिष्क से शरीर में प्रेरणाएँ पहुँचाते हैं। सुषुम्ना का अधिकांश भाग इन्हीं नाड़ी-सूत्रों से निर्मित है और अलग-अलग रज्जुओं या स्तम्भों में बँधा हुआ है। वे स्तम्भ जो मस्तिष्क से नीचे की ओर प्रेरणाएँ भेजते हैं तथा जिनके कारण पेशियाँ सिकुड़ती हैं और हाथ-पैरों की गतियाँ होती है, सुषुम्ना के सामने के भाग में होकर जाते हैं। वे स्तम्भ जो त्वचा और अन्य भागों से मस्तिष्क की ओर प्रेरणाएँ ले जाते हैं, सुषुम्ना के पिछले भाग में होकर जाते हैं।

यदि सुषुम्ना के किसी भाग में चोट लग जाए तो उस स्थान के नीचे के अंगों की इच्छाधीन गतियाँ और प्रेरणाओं की शक्ति ग़ायब हो जाती है, मानों उन अंगों को लकवा मार गया हो। यदि ऐसी दशा सुषुम्ना के उस भाग की होती है जो गर्दन से नीचे है तो मृत्यु नहीं होती, किन्तु यदि गर्दन के क्षेत्र के सुषुम्ना-भाग में खराबी आ जाय तो शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कारण, इस भाग से जो स्नायु-सूत्र निकलते हैं वे उन पेशियों में जाते हैं, जिनसे हम साँस लेते हैं, और साँस न ले सकने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि सुषुम्ना में से ही होकर प्रेरणाएँ मस्तिष्क में जाती हैं और उन प्रेरणाओं का उत्तर भी मस्तिष्क से इसी के द्वारा या इसी के मध्य से शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचता है। यह स्पष्ट है कि सुषुम्ना शरीर की साधारण या प्राणाधार क्रियाओं को नियंत्रित करने में मस्तिष्क के अधीन है।

सुषुम्ना की भीतरी रचना

प्रस्तुत मानचित्र में सुषुम्ना को आड़ी काटकर उसकी भीतरी रचना दिग्दर्शित की गई है। यदि हम इसके आड़े कटे हुए भाग को देखें तो वह आकार में चपटी-सी तथा दाहिने-बाँयें भागों में दो तंग खाइयों द्वारा विभाजित दृष्टिगोचर होगी और दोनों भागों के बीच में उसमें एक शून्य-सा स्थान दिखाई पड़ेगा। यह पोला स्थान सुषुम्ना के बीच की उस नली का होता है, जो मस्तिष्क से मिली रहती है। सुषुम्ना में उसी भाँति के स्नायविक पदार्थ पाए जाते हैं जैसे मस्तिष्क में होते हैं। किन्तु मस्तिष्क के विपरीत इसमें श्वेत पदार्थ बाहर और धूसर पदार्थ भीतर होता है। श्वेत पदार्थ धूसर को पूर्ण रूप से घेरे रहता है और इसके बाहर वही तीन आवरण होते हैं, जो मस्तिष्क में रहते हैं। सफ़ेद भाग में सूत्र होते हैं और धूसर भाग में स्नायुकोष। ये सूत्र मस्तिष्क के विविध भागों से आकर भिन्न-भिन्न भागों को जाते तथा मस्तिष्क से शरीर में प्रेरणाएँ पहुँचाते हैं। सुषुम्ना का अधिकांश भाग इन्हीं नाड़ी-सूत्रों से निर्मित है।

यदि सुषुम्ना में चोट लग जाने पर उसके अवयवों पर पट्टी बाँध दी जाय अथवा उन्हें किसी प्रकार छेड़ा जाय तो वे बिना इच्छा के ही सिकुड़ जाते हैं। इस प्रकार की गति एवं क्रिया को परावर्त्तित क्रिया कहते हैं। यह क्रिया या गति बिना मस्तिष्क के जाने हुए, बिना हमारी अभिलाषा के, सांवेदनिक स्नायु की उत्तेजना से होती है। इस क्रिया की प्रवृत्ति के कई उदाहरण हमें दैनिक जीवन में मिलते हैं। उत्तम भोजन को देखकर मुख में स्वयं ही लार आ जाती है और आमाशय में आमाशयिक रस बनने लगता है। जब हम अँधेरे से एकदम प्रकाश में आते हैं उस समय हमारी आँख की पुतली अपने आप सिकुड़कर छोटी हो जाती है और जब हम प्रकाश से अन्धकार में जाते हैं तब पुतली फैलकर चौड़ी हो जाती है। यद्यपि इस परिवर्त्तन का ज्ञान हमें नहीं होता, पर यह होता अवश्य है।

सुषुम्ना से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर दोनों ओर कई नाड़ियाँ निकलती है, जिनके इकत्तीस जोड़े होते हैं। प्रत्येक स्नायु दो जड़ों द्वारा सुषुम्ना से जुड़ी होती है—एक अगली और दूसरी पिछली। ये दोनों जड़ें बहुधा ऊपर और नीचे के दो मोहरों के मध्य मिल जाती हैं। सुषुम्ना के स्नायु मिश्रित स्नायु हैं। हरएक स्नायु का एक तार सांवेदनिक और दूसरा चालक है। अगली जड़ों के तार सुषुम्ना के भीतर से निकलकर अंगों की ओर जाते हैं—इनका सम्बन्ध पेशियों की गति से है। पिछली जड़ों के तार सांवेदनिक हैं और अंगों की ओर से आकर सुषुम्ना में घुस जाते हैं, तथा उन अंगों की सूचनाएँ सुषुम्ना तक पहुँचाते हैं।

यहाँ हमने सरल रूप में स्नायु संस्थान का आरंभिक वर्णन किया है। आगामी लेख में हम इस संस्थान की क्रियाओं के विषय में अन्य मनोरंजक बातें बताएँगे। तब आप भली-भाँति यह अनुभव कर सकेंगे कि इसका हमारे शरीर में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसे ठीक-ठीक बनाए रखना हमारे लिए कितना अधिक आवश्यक है।
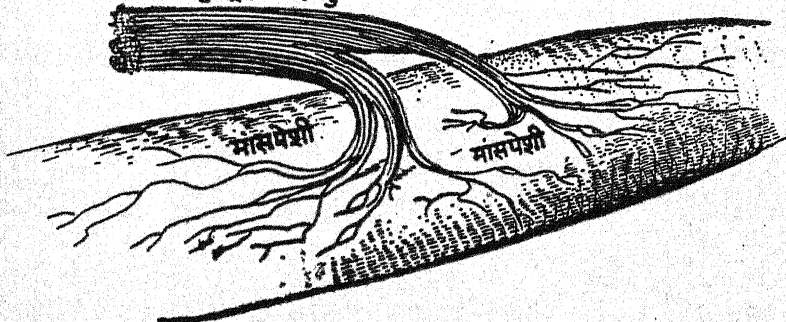
(बाईं ओर)
स्नायु-सूत्र किस प्रकार आकर मांसपेशी में फैल जाते हैं, यह इस चित्र में समझाया गया है। यह चित्र कई गुना परिवर्द्धित है।
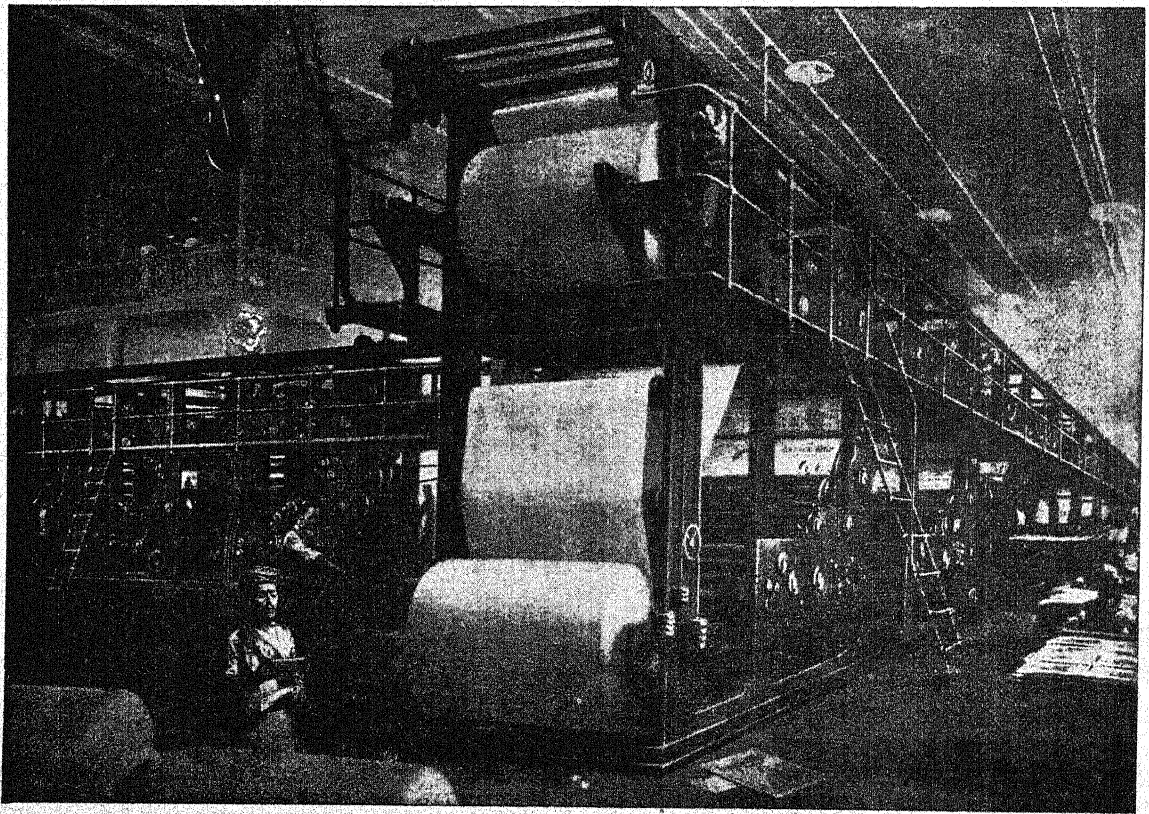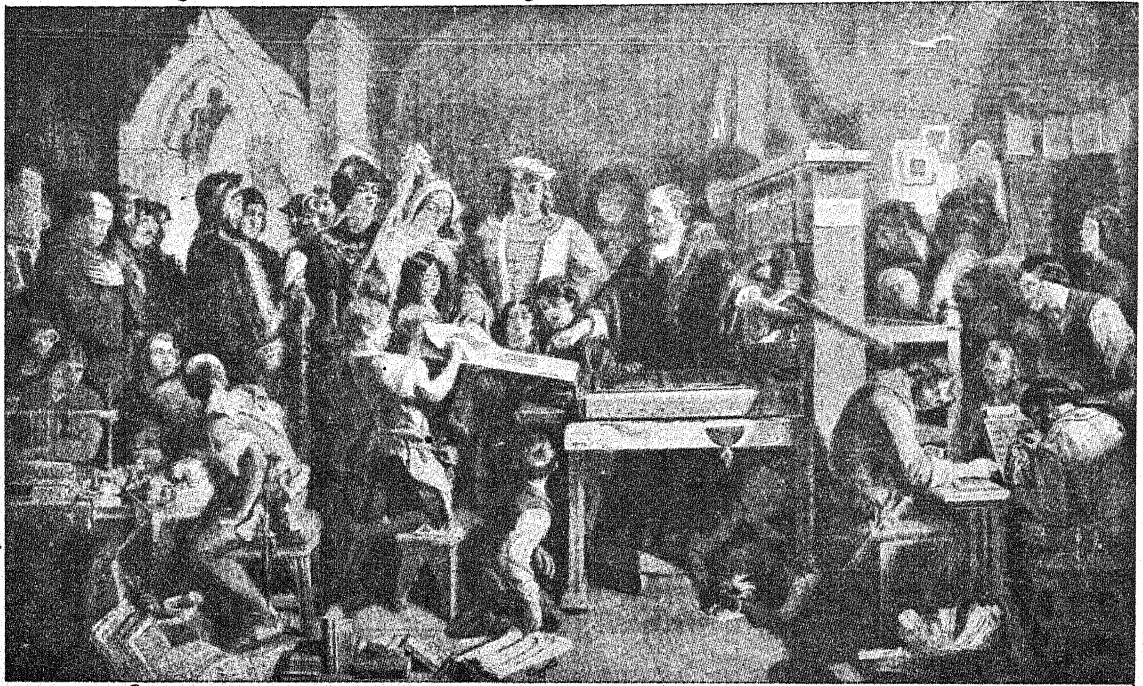
(ऊपर) पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में इंगलैण्ड में मुद्रण-कला का पहले-पहल प्रसार करनेवाले सुप्रसिद्ध विलियम केक्स्टन के छापेख़ाने का दृश्य । मुद्रण-कला के इस अग्रदूत के लकड़ी से बने हैण्डप्रेस की तुलना (नीचे के चित्र में दिग्दर्शित) हमारे देश के सबसे बड़े छापेख़ाने 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया प्रेस' की 'रोटरी' मशीन से कीजिए !
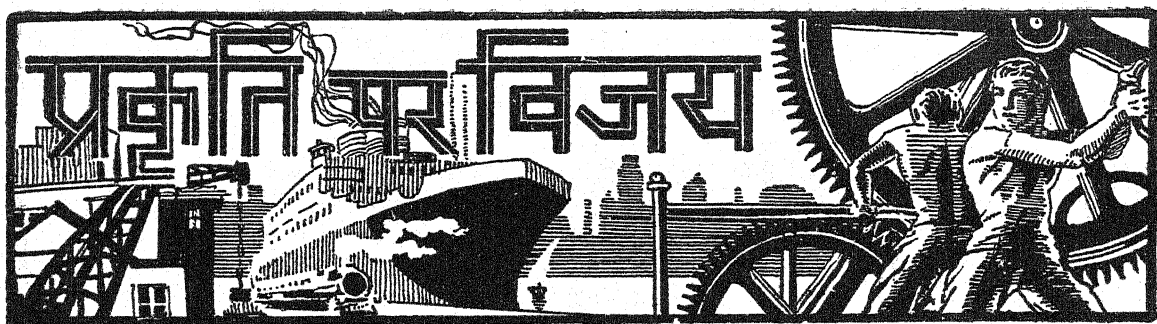
मुद्रण-कला

इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि मुद्रण-कला एक महान् क्रान्तिकारी आविष्कार है, जिसने ज्ञान की ज्योति को असंख्य व्यक्तियों तक पहुँचाने में योग दिया है। छापे की मशीनों के आविष्कार के पूर्व केवल मुँह के शब्दों द्वारा ही एक बड़े जनसमूह तक संदेश पहुँचाए जा सकते थे। पुस्तकें उन दिनों भी थीं अवश्य, किन्तु वे हस्तलिखित होने के कारण बेहद महँगी पड़ती थीं और वे केवल ऊँची श्रेणी के लोगों के ही पास उन दिनों हुआ करती थीं। पुस्तकों के महँगी और अप्राप्य होने के कारण उन दिनों पढ़ना-लिखना अति दुष्कर कार्य था। वस्तुतः पढ़-लिख सकना उस युग में विद्वत्ता का चिह्न समझा जाता था।

मुद्रण-कला ने ज्ञान के प्रसार में सचमुच ही अपूर्व सहायता पहुँचायी है, क्योंकि उसने ही पुस्तकों और समाचारपत्रों को जनसुलभ बनाया है। विज्ञान की प्रगति में भी मुद्रण-कला का विशेष हाथ रहा है। विविध देशों के वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों को पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही एक दूसरे के पास पहुँचाते हैं। यदि ऐसा न होता तो अन्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति से वे कभी लाभ न उठा पाते।

अधिक संख्या में पुस्तकों की प्रतियाँ तैयार करने का सर्वप्रथम प्रयत्न चीन में किया गया। कहते हैं, छठी शताब्दी ई० में चीन के लोग लकड़ी में उभरे हुए अक्षर खोदकर उनसे एक-एक करके पुस्तकों के पृष्ठ छापते थे, ठीक वैसे ही जिस तरह कपड़ों पर लकड़ी के ठप्पों से आजकल बेल-बूटे छापे जाते हैं। इस विशेष विधि को 'ब्लॉक प्रिन्टिङ्ग' का नाम दिया गया है। इस क्रिया से उन दिनों धार्मिक ग्रन्थ प्रचुर संख्या में छापे गए। योरप में मुद्रण-कला देर से पहुँची, किन्तु पाश्चात्य देशों में ही आकर वह विकास की चरम सीमा तक पहुँच पाई।

योरप में पहलेपहल मुद्रण-कला का प्रसार करनेवाला जर्मन आविष्कारक गुटेनबर्ग

लकड़ी के ब्लॉकों से छापने के लिए ब्लॉक के अक्षरों पर एक विशेष ढंग की स्याही पोतकर तथा उस पर गीला काग़ज़ रखकर काग़ज़ की दूसरी ओर गद्दीनुमा पैड से दबाया जाता। इस प्रकार काग़ज़ पर अक्षर छप जाते। किन्तु इस प्रकार काग़ज़ के एक ओर ही अक्षर छापे जा सकते थे। अतः ब्लॉक प्रिन्टिङ्ग द्वारा छपी पुस्तकों के पृष्ठ एक ओर खाली ही रहते। कभी-कभी खाली पृष्ठों को एक दूसरे के साथ चिपकाकर साधारण ढंग की पुस्तकें भी तैयार की जातीं। इस प्रकार चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में योरप के विभिन्न देशों में ब्लॉक-प्रिन्टिङ्ग से सैकड़ों पुस्तकें छापी गईं। किन्तु इस ढंग से छापी गईं पुस्तकें भी काफ़ी महँगी पड़तीं, क्योंकि ऐसी पुस्तकों के प्रत्येक पृष्ठ की छपाई के लिए एक-एक ब्लॉक अलग से तैयार करना पड़ता था।

छापेख़ाने में हाथ से मैटर कम्पोज़ किया जा रहा है

इस चित्र में प्रत्येक खड़े हुए व्यक्ति के सामने जो ख़ानेदार मेज़ें-सी रक्खी हैं, उन्हीं में अलग-अलग ख़ानों में विभिन्न अक्षरों के टाइप भरे रहते हैं, जिन्हें उठा-उठाकर कम्पोज़ किया जाता है।

योरप में सबसे पहले मुद्रण-कला का प्रसार किसने किया, इस संबंध में इतिहासकारों में कोई एक सर्वसम्मत मत नहीं है। परन्तु प्रायः इस महान् युगान्तरकारी आविष्कार का श्रेय गुटेनबर्ग नामक एक जर्मन को दिया जाता है, जिसका जन्म सन् १३९७ ई० में हुआ था और मृत्यु १४६८ ई० में। कहते हैं, गुटेनबर्ग ही ने योरप में पहले-पहल उल्टे अक्षरों के लकड़ी के टाइप बनाकर तथा उनसे मैटर कंपोज़ कर एक भौंडे लकड़ी के प्रेस के दबाव द्वारा छपाई करने का काम जारी किया था। उसने मैंज़ नगर के जॉन फस्ट और पीटर शॉफ़र 'नामक व्यक्तियों के साझे में सन् १४५० ई० में छपाई का कारबार शुरू किया और छः वर्ष बाद बाइबिल का एक संस्करण छापकर प्रकाशित किया। कुछ लोगों की राय में योरप में मुद्रण-कला का आरंभ जर्मनी में नहीं, बल्कि हॉलैण्ड में हुआ और इस संबंध में हार्लेम नगर के कोस्टर नामक एक व्यक्ति का नाम लिया जाता है। पहली बार छपाई के लिए लकड़ी के पृथक् टाइप का प्रयोग वहाँ १५वीं शताब्दी में किया गया था। इन लकड़ी के पृथक् अक्षरों के टाइपों के बीच में सूराख करके उन्हें धागे से पिरो लिया जाता और इस तरह वे कम्पोज़ कर लिये जाते। पर उन अक्षरों के नमूने निश्चित न थे। ये अक्षर उच्च श्रेणी के विद्वानों के लिखे अक्षरों की नक़ल पर ही खोदे जाते, अतः विभिन्न मुद्रक द्वारा छापे गए अक्षर विभिन्न शैली के होते। अवश्य ही इन पृथक् टाइपों के प्रयोग से पुस्तकों की छपाई का खर्च पहले की अपेक्षा कम हो गया। कालान्तर में धातु के टाइप भी ढाले जाने लगे, जो अधिक प्रतियाँ छाप सकते थे। इस प्रकार पुस्तकों की छपाई का खर्च और भी कम हो गया। ये टाइप हाथ से ही कम्पोज़ किये जाते थे, जैसा कि अभी भी हमारे देश के छोटे-छोटे प्रेसों में होता है, और उन दिनों टाइप पर स्याही फेरने के लिए स्याही से चुपड़े हुए बड़े-बड़े गोले उस पर फिराये जाते थे, जिससे स्याही फेरनेवाले के हाथ काले पड़ जाते थे।

इस स्थान पर छापने की दूसरी विधि 'लिथोग्राफ़ी' का भी उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। इस विधि में एक प्रकार के मुलायम पत्थर के धरातल पर एक विशेष प्रकार की स्याही द्वारा जो कुछ छापना हो उसे उल्टा लिख देते हैं। इस पत्थर पर काग़ज़ रखकर दबाने से वे अक्षर सीधे छप जाते हैं। प्रायः हमारे देश में उर्दू की छपाई इसी विधि से की जाती है। अनेक प्रकार के नक़्शे, चित्र आदि भी इस विधि से छापे जाते हैं। टाइपों की विधि की छपाई की तरह इस प्रणाली का भी आज के युग में आकर काफ़ी विकास हुआ है।

लीथो में अवश्य ही कम्पोज़िंग का ख़र्च नहीं पड़ता, किन्तु पत्थर पर लिखनेवाले को पारिश्रमिक तो देना ही पड़ता है। फिर उस में ग़लती सुधारने की वह सहूलियत भी नहीं मिलती, जो टाइप में है, क्योंकि कम्पोज़ किए हुए टाइप के एकाध शब्द को उखाड़कर आसानी से उसकी जगह दूसरे टाइप लगाए जा सकते हैं, पर लीथो में छपनेवाले अक्षरों को बदलते समय पत्थर के धरातल को ख़ुरचना पड़ता है। टाइप के मुक़ाबले में लीथो में छापते समय दबाव की भी अधिक आवश्यकता पड़ती है।

छपाई की मशीनें पहले हाथ से ही चलायी जाती थीं। इसके लिए काग़ज़ को दबाने के लिए हैण्डप्रेस में स्क्रू का प्रयोग होता था। भारत में इन दिनों भी छोटे प्रेसों में इसी ढंग की छापे की मशीनों से काम लिया जाता है। कुशल कारीगर हैण्डप्रेस से प्रति घण्टे अधिक-से-अधिक २०० प्रतियाँ छाप सकता है। अतः समाचारपत्रों के छापने के निमित्त ये प्रेस उपयुक्त साबित न हो सके, क्योंकि उनकी हज़ारों प्रतियाँ चन्द घण्टों के ही अन्दर छापी जानी चाहिये। छापे की मशीन के परिचालन के लिए वाष्प-शक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम १८१४ ई० में किया गया। इङ्गलैण्ड के 'टाइम्स' पत्र के कार्यालय में इस प्रकार की पहली मशीन फ़िट की गयी थी। इस मशीन के आविष्कार का श्रेय कोनिङ्ग नामक व्यक्ति को प्राप्त है। प्रारम्भिक दिनों में छपाई के सिलसिले में सबसे अधिक श्रम टाइप-सेटिंग या कम्पोज़िंग में लगता था और छोटे प्रेसों में हमारे देश में आज भी कम्पोज़िंग का काम अधिकांशतः हाथ से ही किया जाता है। इसके लिए बायें हाथ में 'स्टिक' लेकर दाहिने हाथ से कम्पोज़ीटर एक-एक करके अक्षरों के टाइप को बक्स के विभिन्न ख़ानों से उठाता है और उन्हें सही क्रम से उस स्टिक पर सजाता चला जाता है। यद्यपि कुशल कम्पोज़ीटर अपना काम बहुत तेज़ी से कर सकता है, फिर भी उसकी गति एक सीमा तक ही बढ़ सकती है।

हैण्डप्रेस के बजाय वाष्प या बिजली की शक्ति से परिचालित छापे की मशीनों के आविष्कार का पूरा फ़ायदा उठाने के लिए यह आवश्यक था कि कम्पोज़िंग की भी गति बढ़ाने के लिए तेज़ रफ़्तार से काम करनेवाली मशीनें ईजाद की जायँ। फलस्वरूप दो तरह की कम्पोज़िंग मशीनों का निर्माण हुआ—लाइनोटाइप और मॉनोटाइप।

लाइनोटाइप मशीन में टाइपराइटर की भाँति एक की-बोर्ड लगा रहता है। ऑपरेटर उसके जिस बटन को दबाता है, उसी अक्षर का ठप्पा अपनी जगह से निकलकर किनारे आ जाता है। इस प्रकार एक पूरी लाइन के शब्दों के ठप्पे क्रम से सेट हो जाते हैं। अब ऑपरेटर एक लीवर को दबाता है। उस लीवर को दबाते ही पिघला हुआ शीशा सेट किए टाइप के सामने आ जाता है। उस पर ठप्पे जाकर दब जाते हैं और साँचे में से पूरी लाइन ढल जाती है। इसी प्रकार एक-एक करके पूरे कालम की लाइनें तैय्यार हो जाती हैं। एक लाइन तैय्यार हो जाने पर ऑपरेटर जब दूसरी लाइन के ठप्पे सजाने लगता है तो पहली लाइन के ठप्पे मशीन के पुर्ज़ों की मदद से अपने आप अपनी-अपनी जगह पर चले जाते हैं। समाचार-पत्रों की कम्पोज़िंग के लिए लाइनोटाइप ही अधिकतर काम में लाया जाता है।

पुस्तकों की छपाई के लिए मॉनोटाइप का अधिक प्रयोग होता है। यह मशीन भी लाइनोटाइप के ही सिद्धान्त पर काम करती है। केवल इसमें एक-एक अक्षर अलग ढलते हैं।
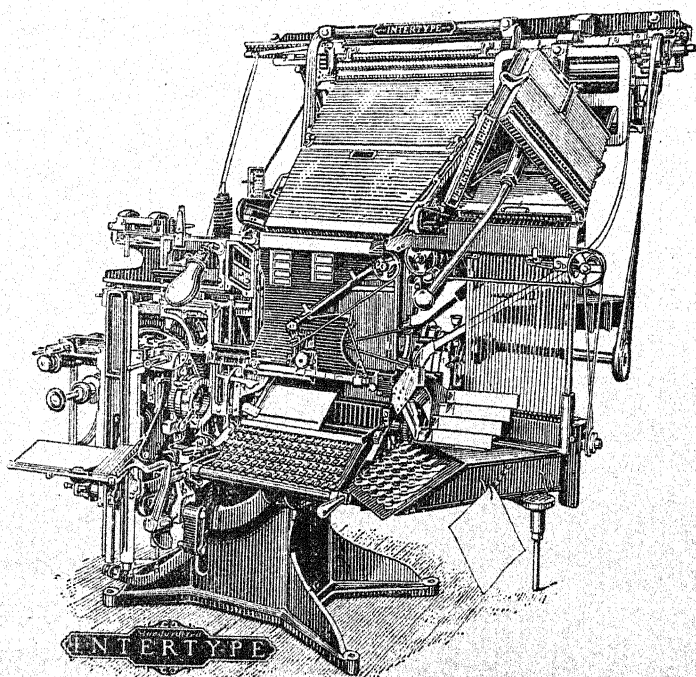
एक आधुनिक स्वयंक्रिय कम्पोज़िंग मशीन

इस मशीन का नाम 'इंटरटाइप' मशीन है और इसका सिद्धान्त वही है जो लाइनोटाइप मशीन का होता है। सामने टाइपराइटर की भाँति जो 'की-बोर्ड' लगा है, उस पर टाइपों के विभिन्न अक्षरों के संकेतचिह्न बने हैं।

ऑपरेटर की-बोर्ड के बटनों को जब दबाता है तो काग़ज़ के एक फ़ीते पर सूराख़ बन जाते हैं। ये सूराख़ एक प्रकार की संकेत-लिपि-से होते हैं जैसा टेलीग्राफ़ी में होता है। अब यही फ़ीता जब ढालनेवाली मशीन में से गुज़रता है तो सूराख़ों की मदद से मनोवाञ्छित अक्षर के ठप्पे अपने आप उठकर पिघले हुए सीसे द्वारा एक-एक करके अक्षर ढाल देते हैं! इस प्रकार अलग-अलग अक्षरों से क्रमशः पूरी लाइन कंपोज़ होकर तैयार हो जाती है।

स्वयंक्रिय कम्पोज़िंग मशीन में कम्पोज़िंग का काम तो तेज़ी से होता ही है, इसके साथ ही उसमें बहुत-से टाइप की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। मशीन में दो-तीन लाइनों की ज़रूरत भर के लिए ठप्पे लगे रहते हैं। इन्हीं की मदद से सैकड़ों पृष्ठ का मैटर कुछ ही मिनटों में कम्पोज़ हो जाता है। मॉनोटाइप की मशीन द्वारा छोटे प्रेसों के लिए हाथ से कम्पोज़िंग के निमित्त नए और सुडौल टाइप के अक्षर भी तनिक-सी देर और सस्ते दाम में ढाले जा सकते हैं। स्वयंक्रिय कम्पोज़िंग मशीनों का वज़न लगभग एक टन होता है और अंग्रेज़ी अक्षर कम्पोज़ करनेवाली मशीन में कुल की बोर्ड में ६० बटन ही होते हैं। हाथ से कम्पोज़ करनेवाले अच्छे-से-अच्छे कारीगर की तुलना में इस मशीन की गति लगभग सात गुनी होती है। स्वयंक्रिय मशीन में लाइनों के असमान होने की सम्भावना ही नहीं रहती। यदि लाइन छोटी-बड़ी हुई तो मशीन में लगा हुआ एक पुर्ज़ा स्वयं ही मशीन को बन्द कर देता है। लाइन की लम्बाई दुरुस्त करके पुनः ऑपरेटर मशीन को चालू
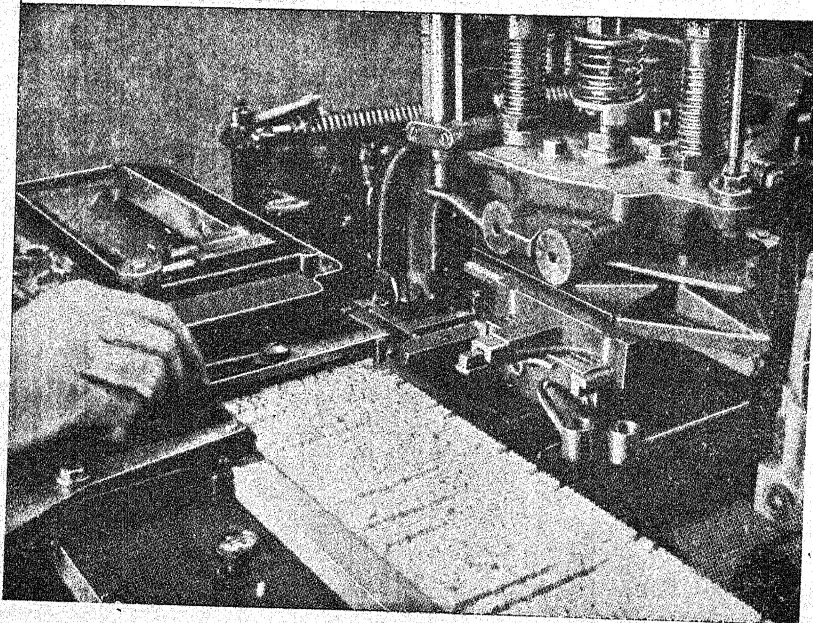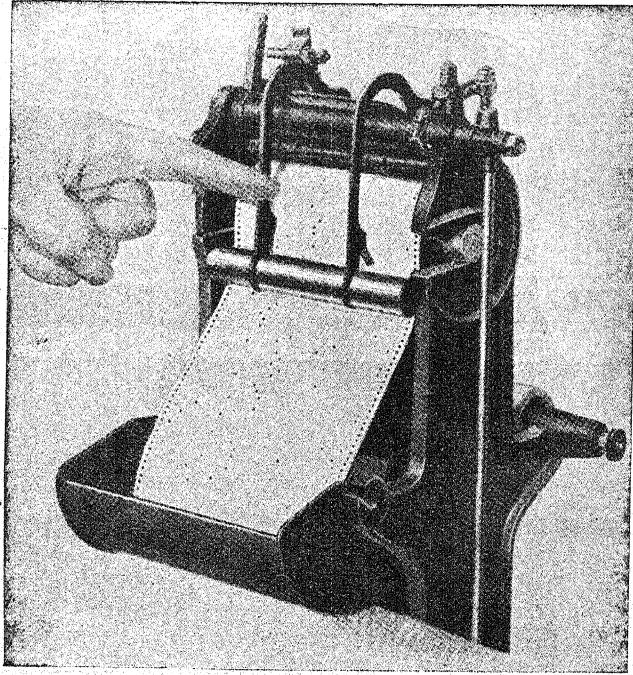
(ऊपर) मॉनोटाइप कम्पोज़िंग मशीन के कागज़ के फ़ीते पर ऑपरेटर ने मनोवाञ्छित अक्षरों को ढालने के लिए एक विशिष्ट संकेत-लिपि-सूचक सूराख़ बना लिए हैं। इस फ़ीते को पुनः टाइप ढालनेवाली मशीन में लगा दिया जाता है और उसके सूराख़ों के निर्देशानुसार ही अक्षरों के ठप्पे अपने आप उठकर पिघले हुए सीसे के सामने आ जाते हैं और मनोनीत टाइप ढलने लगते हैं। (नीचे) इसी मशीन के ढालनेवाले यन्त्र-द्वारा धड़ाधड़ टाइप ढल रहे हैं।

कर सकता है। प्रयुक्त टाइप को पुनः पिघलाकर लाइनोटाइप या मॉनोटाइप मशीन में ढालकर नया मैटर कम्पोज़ किया जाता है। इस प्रकार छप चुके मैटर के टाइप के अक्षरों को पुनः हाथ से उठा-उठाकर खानों में रखने का व्यर्थ का परिश्रम तथा समय बच जाता है। मशीन द्वारा कम्पोज़ करने से ऑपरेटर के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव नहीं पड़ता। हाथ से कम्पोज़ करनेवाले कम्पोज़ीटर के फेफड़ों में सीसे के नन्हें-नन्हें कण जाकर उसके स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाते हैं, किन्तु लाइनोटाइप या मॉनोटाइप से कम्पोज़ करने पर सीसे के कण हवा में उड़ने नहीं पाते।

आधुनिक छापे की मशीनें दो प्रकार की होती हैं—चिपटे धरातल की और बेलनाकार धरातल की, जिसे रोटरी कहते हैं। इन आधुनिक मशीनों की उपयोगिता समझने के लिए इस बात का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि हैंडप्रेस में हाथ से छापते वक्त निम्नलिखित क्रियाएँ सम्पादित करनी होती हैं—(१) रोलर पर स्याही लगाना, (२) टाइप के फर्मे पर रोलर से स्याही फेरना, (३) काग़ज़ को चौरस धरातल पर रखना, (४) फिर इस धरातल को फर्मे के नीचे ले आना, (५) फर्मे को लीवर की मदद से काग़ज़ पर दबाना, ताकि टाइप की छाप काग़ज़ पर उभरे, (६) फर्मे को स्प्रिंग की मदद से ऊपर उठाना, (७) धरातल को एक ओर खिसकाना, और अंत में (८) छपे हुए काग़ज़ को उठाना।

आधुनिक मशीनों में ये सभी क्रियाएँ उनके विभिन्न पुर्ज़ों की मदद से सम्पादित की जाती हैं।

साधारण हैंडप्रेस का ही परिष्कृत रूप 'ट्रेडिल प्रेस' है। इस छापे की मशीन का परिचालन एक पहिए द्वारा होता है, जिसे पाँव की मदद से चलाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस तरह सिलाई की मशीन को दर्ज़ी अपने पाँवों की मदद से चलाता है। इस मशीन में रोलर में स्याही
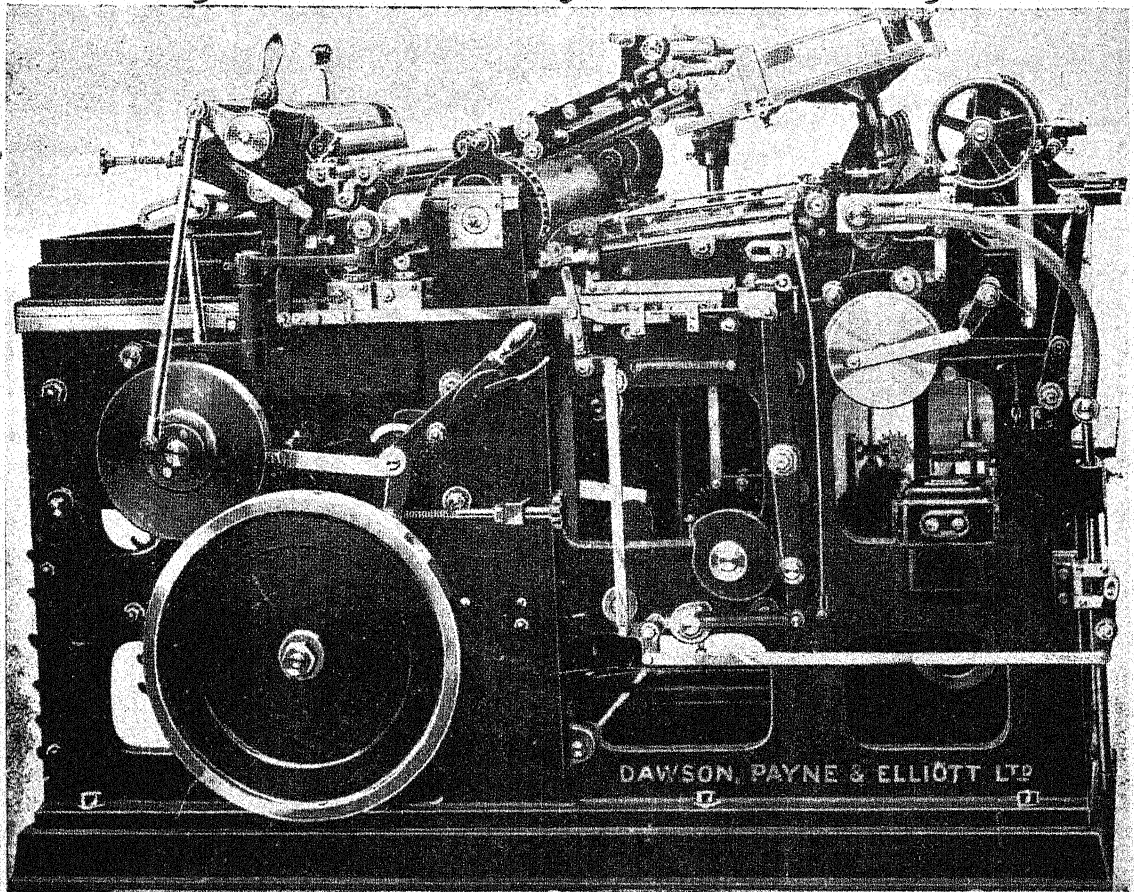
आधुनिक ढंग की चिपटे धरातल की एक छापे की मशीन

यह मशीन स्वयंक्रिय है, अर्थात् इसमें काग़ज़ को मशीन स्वयं ही ले लेती और छापकर अलग इकट्ठा कर देती है।

लगने और उससे टाइप के फर्मे पर स्याही पुतने की स्वयं-क्रिय व्यवस्था होती है। साथ ही उसमें जिस धरातल पर काग़ज़ रखते हैं वह स्वयं ही पहिए के घूमने पर उठकर टाइप के फर्मे पर जा लगता है और फिर तुरन्त ही अपनी पहली जगह पर वापस आ जाता है। इसके बाद छपे हुए काग़ज़ को हटाकर ऑपरेटर दूसरा काग़ज़ वहाँ रख देता है। इसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती रहती है। अवश्य ही ट्रेडिल प्रेस द्वारा छोटे आकार के ही काग़ज़ पर छपाई हो सकती है, किन्तु गति के विचार से हैण्डप्रेस की तुलना में यह श्रेष्ठतर है। हैण्डप्रेस पर दो आदमी काम करते हैं और तब भी प्रति घण्टे २५० पृष्ठ ही छप सकते हैं, जबकि ट्रेडिल प्रेस पर एक लड़का अकेले १००० प्रतियाँ प्रति घण्टे छाप सकता है। ट्रेडिलप्रेस पर टाइप पर स्याही फेरने का स्वयंक्रिय प्रबन्ध होने के कारण सभी प्रतियाँ लगभग एक-सी उतरती हैं, जब कि हैण्डप्रेस में किसी प्रति में अधिक स्याही आती है, किसी में कम, क्योंकि इस मशीन में टाइप पर स्याही हाथ से ही फेरी जाती है।

गत वर्षों में छापे के इन यन्त्रों में सैकड़ों सुधार किए गए हैं और अब प्रायः सभी छापे की कलें बिजली की शक्ति ही से चलाई जाने लगी हैं। साथ ही अब चिपटे धरातल की आधुनिक छापे की मशीन में काग़ज़ के वरक़ स्वयं ही मशीन में एक के बाद एक छपने के लिए लगते जाते हैं, और स्याही भी इस अन्दाज़ से लगती है कि प्रत्येक प्रति पर एक-सी गाढ़ी स्याही के अक्षर उभरते हैं। फिर छपने पर ये वरक़ अपने आप

रोटरी मशीन पर छापते समय काग़ज़ अलग-अलग साधारण तख़्तों के रूप में नहीं, बल्कि मीलों लंबी लिपटी हुई रीलों के रूप में लगाया जाता है। इस कार्य के लिए विशेष रूप से रीलों में लिपटा हुआ काग़ज़ मिलों से बनकर आता है। बाईं ओर के चित्र में एक पेपर-मिल में काग़ज़ की ऐसी ही रीलें तैयार होते दिखाई दे रही हैं। यदि ये रीलें न हों तो रोटरी की छपाई असंभव हो जाय।
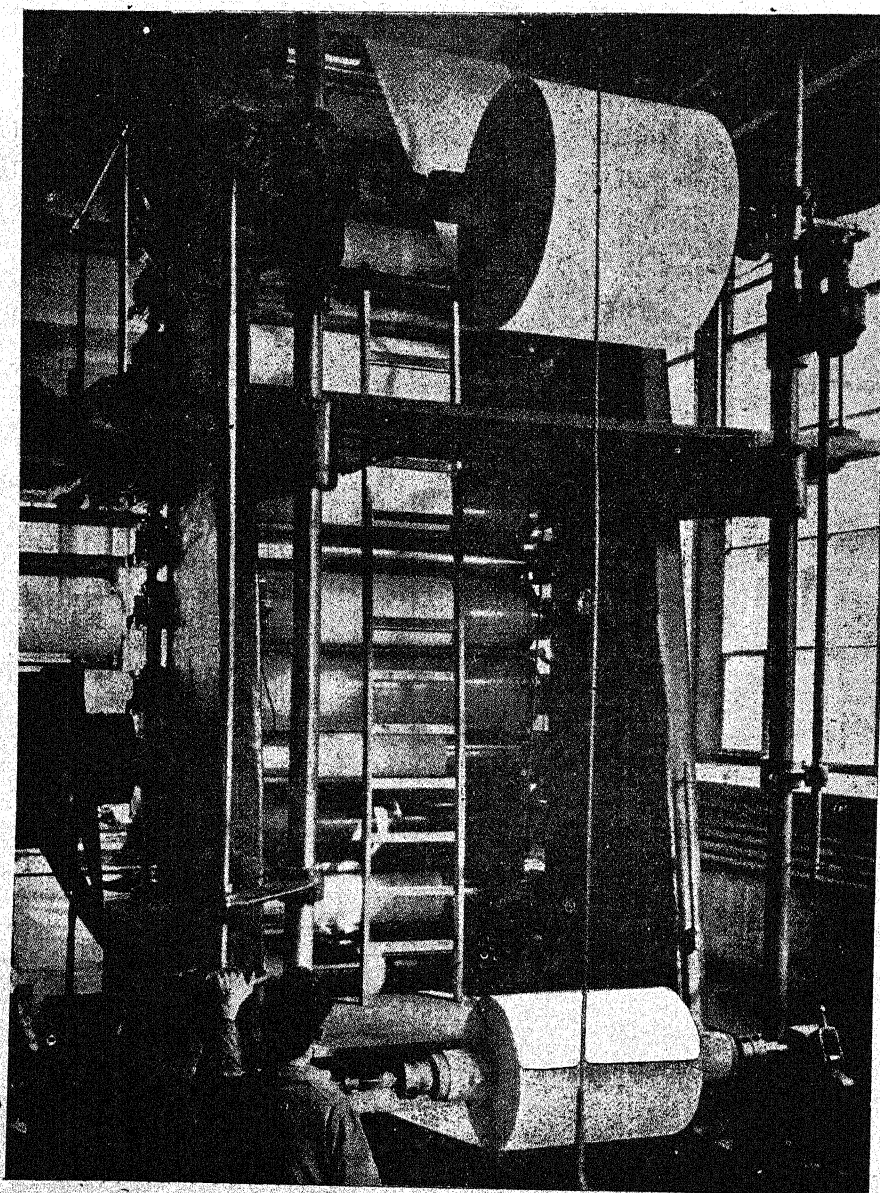
(ऊपरी चित्र) रोटरी प्रिन्टिङ्ग मशीन पर छापने के लिए मैटर की स्टीरियो प्लेटें तैयार की जा रही हैं। ऐसी कई अर्द्ध-बेलनाकार स्टीरियो प्लेटें एक साथ रोटरी के बेलनों पर लगा दी जाती हैं और इस प्रकार कुछ ही समय में निर्धारित मैटर की लाखों प्रतियाँ मुद्रित हो जाती हैं। (नीचे) एक रोटरी मशीन पर अख़बार छप रहा है। (फ़ोटो—'टाइम्स आफ़ इंडिया प्रेस', बंबई की कृपा से)
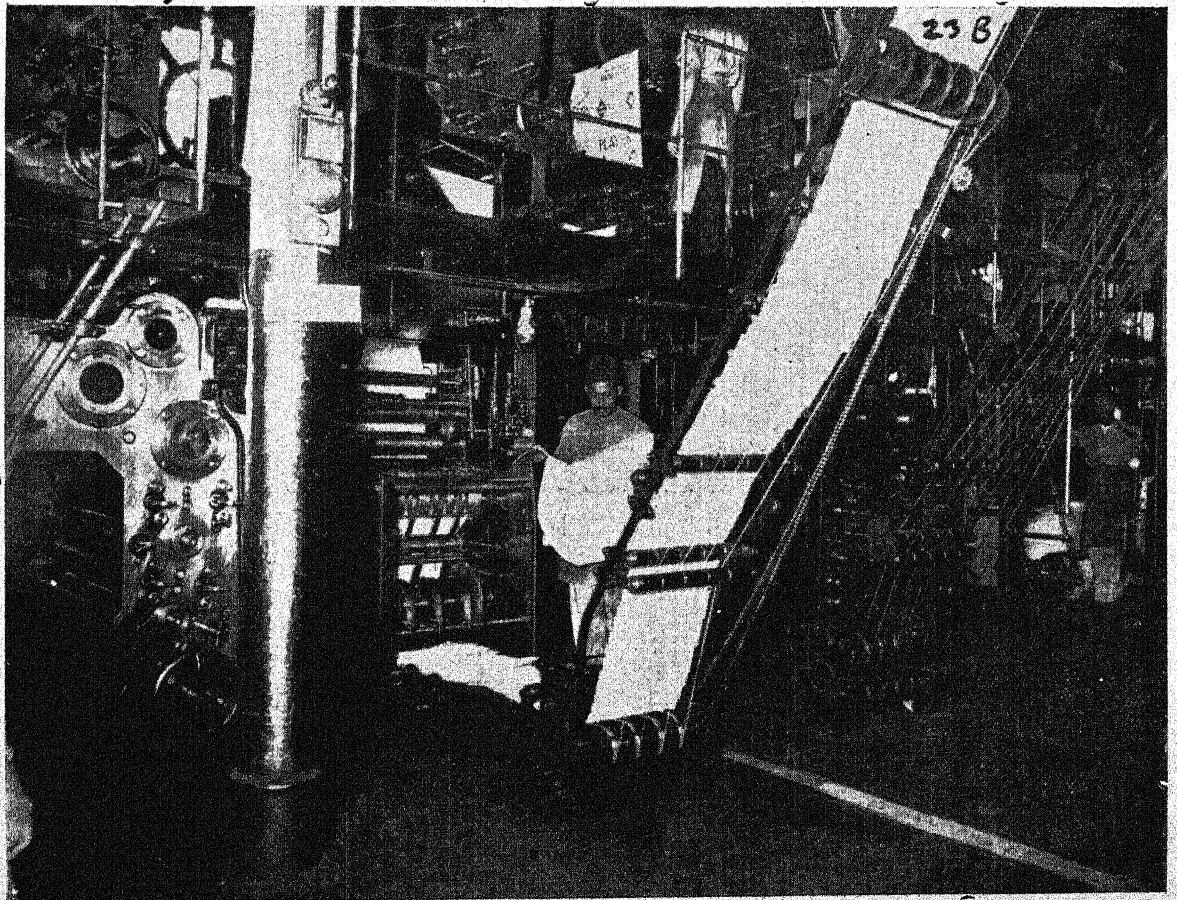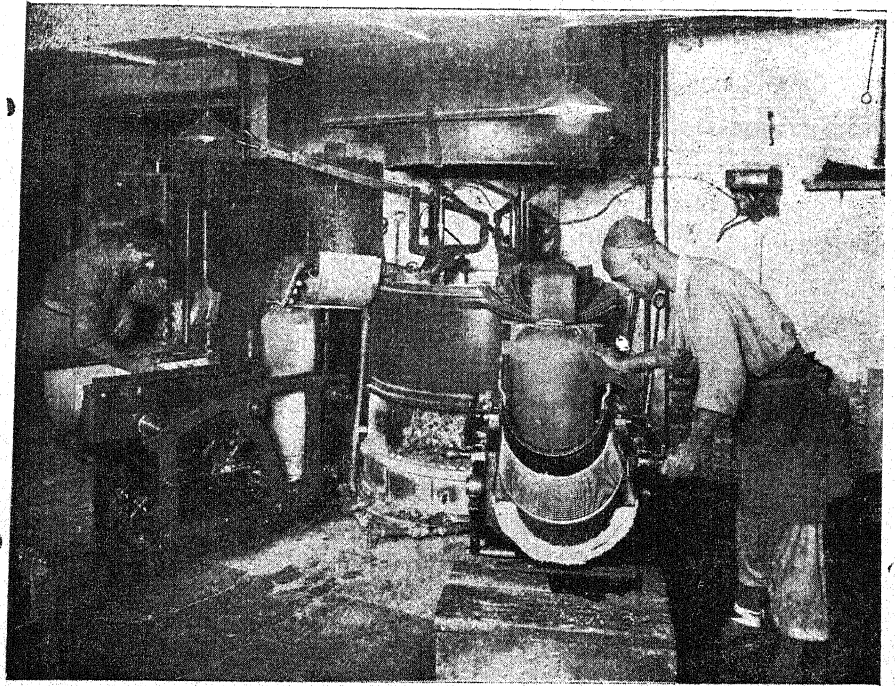
एक दूसरे के ऊपर ठीक से बैठते जाते हैं। इस मशीन में टाइप के फ़र्मे का मुँह ऊपर की ओर होता है और काग़ज़ वाला धरातल ऊपर से जाकर इस पर दबता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पहले जो काम २० व्यक्ति कर पाते थे उसे इस मशीन द्वारा अकेला एक ही ऑपरेटर अब पूरा कर लेता है!

रोटरी मशीन में छपाई की गति और भी तेज़ होती है, अतः दैनिक पत्रों के छापने के लिए प्रायः सभी जगह रोटरी मशीनें ही काम में लाई जाती हैं। इस मशीन में टाइप के अक्षर चिपटे धरातल पर नहीं, बल्कि एक बेलन के अर्द्ध-भाग पर लगे होते हैं। वास्तव में इस मशीन के लिए टाइप का फ़र्मा ढालकर अर्द्ध-बेलनाकार प्लेटों की शक्ल में तैयार किया जाता है, जिसका झुकाव ठीक मशीन के बेलन के झुकाव के बराबर होता है ताकि यह प्लेट बेलन के धरातल पर ठीक-ठीक बैठ जाय। इस प्लेट को 'स्टीरियो प्लेट' के नाम से पुकारते हैं। इसके लिए पहले हाथ से या लाइनोटाइप मशीन से चिपटे धरातल पर मैटर कम्पोज़ करते हैं, फिर काग़ज़ की लुगदी पर इस टाइप के फ़र्मे से ठप्पा मारकर उलटा साँचा तैयार कर लेते हैं। अब ढालनेवाली मशीन में लुगदी के इस साँचे को बेलन के अर्द्धव्यास के अनुसार झुकाकर लगाते हैं और उसमें पिघले हुए सीसे को डालकर बीसियों स्टीरियो प्लेट तैयार कर लेते हैं। तब कई रोटरी मशीनों के बेलनों पर एक ही प्रकार की स्टीरियो प्लेटें स्क्रू द्वारा कस दी जाती हैं और एक ही साथ सब मशीनों पर वही मैटर छपता जाता है। समाचारपत्र छापनेवाली मशीनों में काग़ज़ के वरक़ अलग-अलग एक-एक करके नहीं लगते, बल्कि उसकी मीलों लम्बी एक रील ही लगा दी जाती है। इसी पर प्रतियाँ छपती जाती हैं और उनके वरक़ अलग-अलग कटते जाते हैं। यही नहीं, यह मशीन सफ़ाई के साथ उनकी तह भी कर देती है। स्टीरियो प्लेट द्वारा रोटरी मशीनों पर प्रति घण्टे ३ लाख से भी अधिक प्रतियाँ छाप ली जाती हैं। ये मशीनें काग़ज़ को दोनों ओर भी छापती हैं। साथ ही इनमें फ़ोटो-एलेक्ट्रिक सेल के ऐसे यंत्र लगे होते हैं, जो काग़ज़ की रील के अचानक टूट जाने पर फ़ौरन् ही दो सेकण्ड के अन्दर मशीन को रोक देते हैं!
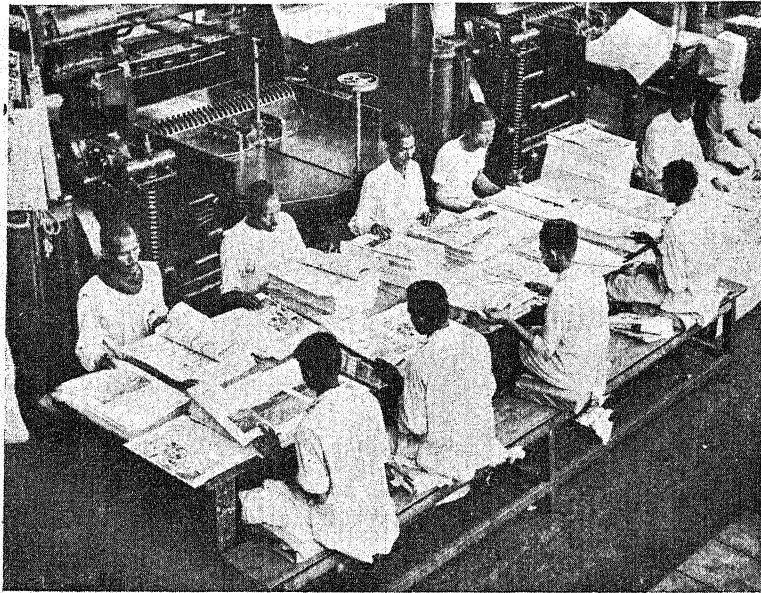
आधुनिक मुद्रणालयों का एक महत्त्वपूर्ण विभाग वह होता है, जहाँ पत्र-पत्रिकाएँ अथवा पुस्तकें छपाई के बाद कटाई, जिल्दसाज़ी आदि के लिए जाती हैं। प्रस्तुत चित्र में बंबई के टाइम्स आफ़् इंडिया प्रेस के दफ़्तरीख़ाने का दृश्य है।

स्टीरियो टाइप की विधि से एक बार के कम्पोज़ किए गए मैटर की कई प्रतिलिपियाँ शीघ्र ही कम खर्च पर ही तैयार कर ली जाती हैं, और इन प्रतिलिपियों में किसी प्रकार की ग़लती होने की भी सम्भावना नहीं रहती—जबकि उसी मैटर को दुबारा कम्पोज़ करने में खर्च भी ज़्यादा बैठता और उसमें ग़लती होने की भी सम्भावना रहती है। फिर इस क्रिया में सबसे बड़ा लाभ यह है कि उससे टाइप के अक्षरों की भी बचत होती है। थोड़ा-सा मैटर कम्पोज़ कर लेने के बाद उसकी स्टीरियो प्लेट तैयार कर लेने पर मैटर को खोलकर टाइप खाली किये जा सकते हैं, और उनसे दूसरा मैटर कम्पोज़ किया जा सकता है। बाद में उपयोग करने के निमित्त ये प्लेटें आसानी के साथ सञ्चित भी की जा सकती हैं, जबकि अलग-अलग अक्षरों से कम्पोज़ किए गए मैटर के फ़र्मे से एकाध अक्षर के गिरने की भी सम्भावना हो सकती है, तथा टाइप के अक्षर उसमें एक तरह से व्यर्थ ही फँस-से जाते हैं।

संस्कृत-वाङ्मय—६

विविध काव्य—इतिहासपरक

इतिहासपरक कुछ काव्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इतिहास-पुराण इसी प्रकार के एक वर्ग के प्रति संकेत करते हैं। रामायण और महाभारत इसी श्रृंखला की दो अनमोल कड़ियाँ हैं। फिर भी रामायण, महाभारत और पुराणों को इतिहास कहना आधुनिक ऐतिहासिक विचार से अनुचित जान पड़ता है। इसका कारण प्रथम तो यह है कि पुराणों को छोड़कर अन्य दोनों काव्यों में कुल अथवा व्यक्ति-विशेष का ही वर्णन है और दूसरे उस वर्णन में भी अलौकिकता पर कवि ने अधिक ज़ोर दिया है। इस प्रकार अतिमानवीय प्रसंगों से युक्त इन काव्यों का इतिहास अत्यन्त अग्राह्य हो जाता है। विशेषकर इस कारण कि उसमें कवि का व्यक्तित्व अपनी कल्पना को अधिकाधिक स्थान देने लगता है। बौद्धों के 'दीपवंश' और 'महावंश' भी इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। फिर इतिहासपरक ग्रंथों का अनुशीलन ही भारतीयों को अरुचिकर प्रतीत हुआ है। 'रघुवंश' और 'नैषधीय' पर तो अनेक टीकाकार मिलेंगे, परन्तु 'नवसाहसांकचरित' और 'गौड़वहो' पर मानों टीकाकारों की भारती स्तंभित हो जाती है। कुछ व्यक्तिगत जीवनचरित अवश्य संस्कृत और प्राकृत में उपलब्ध हैं, परन्तु थोड़ी राजनीतिक सामग्री के अतिरिक्त उनमें और कुछ नहीं मिलता और जो राजनीतिक अथवा सामाजिक स्थिति उनसे ज्ञात भी होती है वह अधिकतर राजा के व्यक्तिगत जीवन से अधिक संबंधित होती है तथा उसका सामाजिक रूप भी साधारणतया ऊपरी श्रेणी का ही होता है। एक प्रयत्न संस्कृत में इतिहास लिखने का निस्सन्देह प्रचुर स्तुत्य हुआ है और समसामयिक अथवा कुछ काल पूर्व की सामग्री के संबंध में तो यह सचमुच ही अनुपम है—यह है कल्हण की 'राजतरङ्गिणी'। परन्तु इतिहास-विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण से देखने पर यह भी निर्दोष नहीं प्रतीत होता। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि कल्हण ने काश्मीर के इतिहास की खोज में अत्यधिक परिश्रम किया है, फिर भी वह 'पुराण' और रुचि-कल्पना से अपने को मुक्त न कर सका। फिर भी उसकी राजतरङ्गिणी को हम बारहवीं सदी के लगभग पहले की सदियों के काश्मीरी इतिहास का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं।

१. प्रशस्तियाँ

इतिहास-पुराण, रामायण-महाभारत, दीपवंश-महावंश के अतिरिक्त जिन काव्यों ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा सँवारी है, उनमें प्रशस्तियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। ये शिला-स्तंभ, ताम्रपत्र, प्रस्तर-धातु-काष्ठ-मृत्तिका-निर्मित मूर्त्तियों अथवा मन्दिरों और प्रासादों की दीवालों पर उत्कीर्ण मिलती हैं। राजनीतिक रूप में वे राजाओं के पारस्परिक संघर्ष, जय-पराजय, वंशावली अथवा शासन-संबंधी घोषणाएँ है। इन प्रशस्ति-काव्यों में सबसे ऊँचा स्थान गुप्तकालीन कृतियों का है, जब गुप्त-सम्राटों ने अपनी मुद्राओं तक पर छन्दयुक्त वाक्यावली उत्कीर्ण कराई। कभी-कभी इन उत्कीर्ण लेखों में स्तोत्र भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार का एक स्तोत्र आठवीं सदी के कवि राम द्वारा विरचित खुदा मिला है। राम अपने को 'कवीश्वर' कहता है। उसकी गर्वमयी उक्ति है कि अभी उसके मुख में माता के दूध का स्वाद बना ही था कि उसकी बाल-जिह्वा पर सरस्वती का नर्त्तन होने लगा! परन्तु उसके स्तोत्र-काव्य में काव्योचित गुणों का पर्याप्त अभाव है। वत्सभट्टी उससे कहीं ऊँचा है। पर उसकी भी कविता में वैचित्र्य का प्राचुर्य है, क्योंकि उसके चौदह श्लोकों का स्तोत्र पार्वती और शिव दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और आखिर वर्णन-वैचित्र्य काव्य का कलेवर मात्र है और सो भी कुरुचिपूर्ण। कालिदास और जयदेव में वह हमें नहीं मिलता। इसी प्रकार का एक अन्य स्तोत्र नवीं सदी के ललितसुरदेव का उत्कीर्ण मिला है (दे० इण्डियन ऐन्टि-

क्वेरी, खण्ड २५, पृष्ठ १७७ से आगे)। ऐहोल का प्रसिद्ध शिला-लेख, जिसमें चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय द्वारा सम्राट् हर्षवर्धन की पराजय का विरुद खुदा है, बड़ा सुन्दर और तरल है। एक उदाहरण इस श्लोक में है—

युधिपतित गजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकार हर्षः।

२. कुछ फुटकर ग्रन्थ

इस प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थों में से दो, 'हर्षचरित' और 'गौड़वहो', प्रमुख हैं। 'हर्षचरित' राजा हर्षवर्धन के सभासद् कवि बाण की संस्कृत-कृति है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह हर्ष के संबंध में भी नितान्त अपर्याप्त है। उसके पूर्वपुरुषों के संबंध की कुछ राजनीतिक बातें इसमें अवश्य उपलब्ध होती हैं, परन्तु इसे इतिहास कहना इतिहास की विडम्बना है। इससे कहीं अच्छा प्रयास 'गौड़वहो' के रचयिता प्राकृत कवि वाक्पतिराज का है। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा का दरबारी कवि था। इसमें यशोवर्मा द्वारा गौड़ (बंगाल) पर चढ़ाई और वहाँ के राजा का वध वर्णित है। यशोवर्मा का काल हमें मालूम है। काश्मीर-नृपति ललितादित्य से पहले उसकी घनिष्ठ मित्रता थी, परन्तु ललितादित्य ने बाद में उसे मारकर ७४० ईस्वी के लगभग कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। वाक्पतिराज का समय भी इस प्रकार आठवीं शती के मध्य में होना चाहिए। इस काव्य में भी अधिकतर ऋतुओं के सौन्दर्य, राजाओं के विलास और पौराणिक कथानकों का वर्णन है। महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा 'गौड़वहो' चरित से अधिक एक काव्यग्रन्थ है और अपूर्ण-सा है। ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा का पराभव और वध सम्भवतः इसकी ऐतिहासिक अपूर्णता का कारण सिद्ध हुआ होगा। पद्मगुप्त (परिमल) द्वारा विरचित 'नवसाहसांकचरित' तो इस दृष्टि से और भी अपर्याप्त है। इस काव्य में अठारह सर्ग हैं और यह लगभग १००५ ई० में लिखा गया था। इसमें यद्यपि शशिप्रभा के प्रणय-संबंध में पौराणिकी कथा है तथापि यह एक प्रकार से मालवन्तपति सिन्धुराज नवसाहसांक का चरित है। पद्मगुप्त मुञ्ज (ईस्वी ९७४-९४) और सिन्धुराज (ईस्वी ९९५-१०१०) का दरबारी कवि था। सिन्धुराज राजा भोज का पिता था। पद्मगुप्त की भाँति ही बिल्हण ने भी 'कर्णसुन्दरी' नामक एक नाटक लिखा, जिसमें विद्याधरों की एक राजकन्या से एक चालुक्य राजा के विवाह का वर्णन है। यह विवाह वास्तव में एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। चालुक्यराज अन्हिलवाड़ा का कर्णदेव है और विद्याधरराज की कन्या है यथार्थतः कर्णात (कर्नाटक)-नरेश जयकेशी की पुत्री मियनल्लदेवी। इस नाटक में भी काव्यों की भाँति ही ऐतिहासिक विवरण अत्यन्त न्यून है। परन्तु इसमें जहाँ-तहाँ बिल्हण की हृदय-लहरी तरंगित हो पड़ी है और भाव तरल हो गए हैं।

'भुवनाभ्युदय' नामक एक और ऐतिहासिक काव्य का उल्लेख कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में मिलता है। इस काव्य का रचयिता शङ्कुक नाम का कवि था। कल्हण के अनुसार इस काव्य में मम्म और उत्पल के झेलम-तट पर घोर संग्राम का वर्णन था। उस युद्ध में आहत शवों से वितस्ता का प्रवाह अवरुद्ध हो गया था—

रुद्धप्रवाहा यत्रासीद्वितस्ता सुभटैर्हतैः।

इस वितस्ता-तट के योद्धाओं में से उत्पल का समय लगभग ८५० ईस्वी है, अतः कवि शङ्कुक को भी इसके आसपास ही रखना होगा। सुभाषितों में शङ्कुक नामक एक कवि के कुछ श्लोक उद्धृत हैं, परन्तु उस शङ्कुक और 'भुवनाभ्युदय' के रचयिता के एक ही व्यक्ति होने में सन्देह है। कवि मयूर के पुत्र एक और शङ्कुक का उल्लेख भी सुभाषित के एक श्लोक के संबंध में हुआ है। परन्तु मयूर-पुत्र शङ्कुक और उत्पल-सम्बन्धी कवि तो किसी प्रकार भी एक व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें से पहले का पिता तो सातवीं सदी के प्रथम चरण के हर्षवर्धन के समकालीन बाण का साला था और दूसरा प्रायः ८५० ईस्वी के उत्पल का समसामयिक या उससे बाद का है। एक तीसरे शङ्कुक का हवाला उस श्लोक से मिलता है, जो विक्रमादित्य के रत्नों के सम्बन्ध में उपलब्ध है। यह तीसरा ऊपर के दोनों शङ्कुओं में से कोई भी हो सकता है, यद्यपि उसका तीसरा होना भी कुछ अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शङ्कुक के काव्य 'भुवनाभ्युदय' के ऊपर अभिनव गुप्त ने 'अभिनव-भारती' नाम की एक टीका लिखी है। इस पर एक और टीका भट्टनायक की भी मिलती है।

३. बिल्हण

संस्कृत-काव्यकारों की अधिकतम संख्या काश्मीर प्रदेश की है। यहाँ की कानन-परम्परा और हिममण्डित पर्वतमालाओं ने भावुकों में काव्य-संचार किया और इन कवियों ने काव्यमर्मज्ञों की भी वहाँ एक शृंखला-सी बाँध दी। जिस प्रकार वहाँ कवि उत्पन्न हुए, उसी प्रकार काव्य के पारखी भी। अलंकारों और काव्यालोचना पर ग्रन्थ लिखनेवाले पंडित अधिकतर काश्मीरी ही थे। इसी प्रकार

भारतवर्ष के आरंभिक इतिहासकार भी काश्मीर के ही दो पण्डित कवि हुए। इनमें से पहला था बिल्हण और दूसरा कल्हण। अनेक प्रसंगों में हम पहले ही बिल्हण से परिचित हो चुके हैं। परन्तु अब उसके विशिष्ट इतिहास-काव्य 'विक्रमांकदेवचरित' के संबंध में हम उसका विशिष्ट परिचय प्राप्त करेंगे। बिल्हण का जन्म तो उस कुंकुम-प्रसवा भूमि काश्मीर में हुआ, परन्तु वह वहाँ टिका नहीं। संभवतः कलश के राज्यकाल में काश्मीर छोड़ वह बाहर निकल गया और चिर-काल तक मथुरा, कन्नौज, प्रयाग तथा काञ्ची आदि नगरों में भ्रमण करता रहा। कुछ काल तक वह डाहल के नृपति कर्ण (संभवतः चेदि का, कर्ण-सुन्दरी का कर्ण नहीं) की राजसभा में रहा, फिर अन्हिल-वाड़ा के चालुक्य-नरेश कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६४-६४) के दरबार में। अन्त में कल्याण के चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठम्) ने बिल्हण को 'विद्यापति' की उपाधि देकर अपने पास रख लिया। विक्रमादित्य (ईस्वी १०७६-११२७) ने उसे एक नीला छत्र और गज देकर समादृत किया। कर्ण के दरबार में उसने गंगाधर नामक एक कवि को काव्यरचना में परास्त किया था। वहीं उसने राम के ऊपर शायद कोई काव्यरचना भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है। एक स्थान पर वह कहता है कि उसके काव्यचमत्कार को देखकर धारानगरी का राजा भोज भी उसका अपनी राजसभा में स्वागत करता। इस प्रकार मालूम होता है कि वह भोज का सम-कालीन था, यद्यपि भोज का यह अन्त्यकाल रहा होगा।

बिल्हण का सबसे सुन्दर काव्य-ग्रन्थ 'विक्रमाङ्कदेवचरित' ही है, जिसे उसने अपने संरक्षक चालुक्यराज विक्रमा-दित्य (षष्ठम्) की प्रशस्ति में लिखा था। यह काव्य सन् १०८८ ईस्वी के पूर्व ही समाप्त हो चुका होगा। इसके कई कारण हैं। पहले तो उस तिथि के शीघ्र बाद ही विक्रमादित्य ने दक्षिण पर जो भयंकर आक्रमण किया था, उसका कोई संकेत इस काव्य में नहीं है। दूसरे, काश्मीर के हर्षदेव को वह राजा नहीं वरन् केवल कुमार कहता है। हर्षदेव १०८८ ईस्वी में ही काश्मीर की गद्दी पर बैठा था और यदि यह काव्य इस वर्ष के बाद समाप्त हुआ होता तो निश्चय कवि उसे कुमार न कहकर राजा कहता। ऐसा भी नहीं हो सकता कि बिल्हण ने हर्षदेव का राजा होना न सुना हो, वह पहले ही मर गया हो, क्योंकि कल्हण का स्पष्ट कथन है कि बिल्हण उसके राजा होने के बाद तक जीवित था। इससे सिद्ध है कि 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की रचना सन् १०८८ के पूर्व ही हो चुकी थी। बिल्हण ब्राह्मण था और उसके कुल में वैदिक यज्ञ, अग्निहोत्र आदि करने की प्रथा थी। उसके पिता का नाम ज्येष्ठकलश, पितामह का राजकलश और प्रपितामह का मुक्तिकलश था। उसकी माता का नाम नागदेवी था। बिल्हण के दो अन्य भ्राताओं के नाम थे इष्टराम और आनन्द। दोनों ही पण्डित और कवि थे। स्वयं बिल्हण ने वेद, पतञ्जलि के महाभाष्य और अलङ्कार के विषय में शिक्षा पाई थी।

बिल्हण का यह महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' आरंभ में पुराणपरक है। उसका कहना है कि देश और काल जब कुकर्मों से विपन्न हो गया तब उनकी रक्षा के लिए ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु से एक वीर उत्पन्न किया जो चालुक्य-कुल का प्रतिष्ठापक हुआ। अपनी प्राचीन राजधानी अयोध्या को छोड़कर उसके पश्चात्कालीन उत्तरा-धिकारी दक्षिण की ओर कल्याण में जा बसे। कहाँ तक इस किंवदन्ती में ऐतिहासिक सार है यह कहने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यह माना जा सकता है कि चालुक्यों का आदि-स्थान अयोध्या रहा होगा। कम-से-कम यह स्वीकार करने में अलौकिकता बाधा नहीं डालती। फिर बीच के इतिहास और ख्यातों को छोड़कर कवि एकदम दसवीं सदी के राजा तैलप (९७३-९७ई०) के समीप आ जाता है, यद्यपि वह उसके मालवराज द्वारा पराभव की बात का संकेत भी नहीं करता। हमें इतिहास से विदित है कि धारा के भोज के चाचा और सिन्धुराज के ज्येष्ठ भ्राता वाक्पति मुञ्ज ने इस तैलप (द्वितीय) को कम-से-कम छः बार हराया था। अन्त में जब अपने मंत्री की सम्मति की सर्वथा अवहेलना कर मुञ्ज गोदावरी के दक्षिण में अन्धाधुन्ध बढ़ता गया, तभी चालुक्यराज तैलप उसे हराकर बन्दी कर सका। मुञ्ज अन्त में हाथी द्वारा कुचलवा डाला गया। बिल्हण अपने महाकाव्य में तैलप द्वारा राष्ट्रकूटों का पराभव तो लिखता है, परन्तु उस मुञ्ज की विजय का हवाला नहीं देता—इससे उसका इतिहास-विरुद्ध पक्षपात सिद्ध है। बाद के सारे राजाओं का, सिवा एक के, इसमें उल्लेख हुआ है। विक्रमादित्य के पिता आहवमल्ल (ईस्वी १०४०-६९) पर आकर ही कवि की लेखनी रुकी है और उसके संबंध में वर्णन काफ़ी नाट्यपूर्ण और विशद हो गया है। आहवमल्ल के पुत्र नहीं है। वह अपनी रानी के साथ शिव की आराधना करता है। शिव प्रसन्न होकर उसे तीन पुत्र सोमेश्वर, विक्रमादित्य

और जयसिंह नामक देते हैं। बड़े होने पर आहवमल्ल विक्रमादित्य को युवराजपद स्वीकार करने को कहता है, परन्तु वह ज्येष्ठ भ्राता के अधिकारों को छीनना नहीं चाहता, इसलिए ऐसा करने से इन्कार कर देता है। अपने पिता के राज्यकाल में विक्रमादित्य कई युद्धों में उसकी सहायता करता और अनेक विजय प्राप्त करता है। इन्हीं विजयों के बीच एक बार उसे ज्वर हो आता है और उसका पिता घबराकर अपना जीवन-विसर्जन करना निश्चित कर लेता है। मंत्रियों के बहुत रोकने पर भी आहवमल्ल पुत्र की मृत्यु की आशंका करता हुआ दक्षिण की गंगा तुंगभद्रा में प्रविष्ट होता है और शिव पर चित्त स्थापित कर स्वर्गारोहण करता है। इस स्थल पर कवि का वर्णन बहुत सुन्दर हो जाता है। पिता की मृत्यु पर विक्रमादित्य बड़ा दुःखी होता है, परन्तु शान्तिपूर्वक वह अपने बड़े भाई का राज्यारोहण कराता और उसके साथ कुछ काल तक रहता है। बाद में जब उसके ज्येष्ठ भ्राता सोमेश्वर को उस पर संदेह होता है तो वह अपने अनुज जयसिंह को लेकर तुंगभद्रा की ओर जाता है और वहाँ एक स्थल जीतकर बस जाता है। इसके बाद वह चोलराज से मैत्री करता है। चोलराज के मरने पर बचाव की कोशिश करने पर भी चोलों का राज्य राजिग नामक व्यक्ति हस्तगत कर लेता है। राजिग विक्रमादित्य के विरुद्ध उसके भाई चालुक्य-राज सोमेश्वर से मैत्री कर लेता है। इस पर युद्ध होता है और विक्रमादित्य चोलराज और भ्राता की सम्मिलित वाहिनी को पराजित कर चालुक्य-सिंहासन हस्तगत करता है। अपने अनुज जयसिंह को वह फिर वनवासी का शासक नियुक्त करता है। तदनंतर विक्रमादित्य एक (राजपूत) राजकन्या के स्वयंवर में जाकर वधू को जीत लेता है। इसके बाद इस काव्य में राजा के विहार, ऋतुओं के सौंदर्य और वधू के नखशिख के वर्णन हैं। इसके अनंतर आपानकों का वर्णन है, जिनमें राजपूत रमणियाँ भी खुलकर सुरापान करती हैं। राजा कल्याण को लौटकर जलविहार करता है। जयसिंह फिर विद्रोह करता है, पर राजा उसे जीत-कर क्षमा कर देता है। उसके बाद राजा के आखेटों के चित्राङ्कन हैं। विक्रमादित्य के पुत्र जन्मते हैं। वह विक्रम-पुर नामक नगर और कमलाविलासिन विष्णु का मन्दिर निर्मित कराता है। इस अवसर पर चोलों के उपद्रव आरंभ हो जाते हैं। विक्रम उन्हें जीतकर कुछ काल के लिए उनकी राजधानी काञ्ची पर अधिकार कर लेता है। इस काव्य के अन्तिम अर्थात् अठारहवें सर्ग में बिल्हण के स्वय अपने कुल तथा अपने पर्यटनों का वर्णन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक शिलालेख बिल्हण के चरित-विस्तार को प्रमाणित करते हैं, परन्तु उसका तिथिक्रम नितान्त दोषपूर्ण है। उसे वास्तव में तिथिगणना का कोई ज्ञान नहीं। प्रायः वह घटनाओं के क्रम को 'कुछ काल बाद' अथवा 'बहुत काल पश्चात्' कहकर परिचालित करता है, परन्तु इस प्रकार के कथन से उसके काल-ज्ञान की कमी ही प्रकट होती है। बात यह है कि बिल्हण की यह कृति भारतीय काव्य-परम्परा के अनुरूप ही है। संरक्षक नायक का प्रशस्ति-गान और काव्याङ्कन ही इसका उद्देश्य है, चरित में तिथिक्रम-निदर्शन नहीं।

काव्य की दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरित' साधारणतः निर्दोष है। बिल्हण की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। उसका वर्णन अनिन्द्य और कथन स्पष्ट है। दुरूहता उसमें नहीं के बराबर है। उसकी वृत्ति वैदर्भी है और उसने समस्त पदों का यथासंभव कम प्रयोग किया है। इस काव्य का सबसे सुन्दर स्थल, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आहवमल्ल का तुंगभद्रा-प्रवेश है। उसका वर्णन पाँचवें सर्ग में अत्यन्त गम्भीर और करुण है। मंत्रियों के अनुनय के विरुद्ध दशरथवत् आचरण करनेवाले इस पिता का गौरव और साहस सराहनीय है।

बिल्हण ने अपने काव्य के ६ सर्गों में इन्द्रवज्रा, तीन में वंशस्था, दो में श्लोक, दो में रथोद्धता और एक-एक में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, और स्वागता का प्रयोग किया है। वैतालीय का मुख्यतः व्यवहार पन्द्रहवें में है। इनके अतिरिक्त हरिणी, स्रग्धरा, शिखरिणी, पृथ्वी और औपच्छन्द-सिक, मालिनी, वसन्ततिलका, और शार्दूलविक्रीड़ित का भी क्रमशः उत्तरोत्तर प्रयोग है।

४. कल्हण

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' प्राचीनकालीन इतिहासनिर्माण का स्तुत्य भारतीय प्रयत्न है। हम इसके ऐतिह्य दृष्टिकोण और काव्य-शैली पर तो यथास्थान विचार करेंगे, यहाँ पहले कल्हण के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखनेवाले आँकड़ों को एकत्र कर लें। राजतरंगिणी जहाँ ऐतिहासिक प्रयास का एक कुशल उदाहरण है, वहाँ इसमें इसके रचयिता के संबंध में भी पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। संस्कृत कवियों ने साधारणतया अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। कालिदास इस बात के सबल प्रमाण हैं। बिल्हण ने अपने विषय में कुछ वृत्तान्त बताकर साहित्य के इतिहासकार को काफ़ी अनुगृहीत किया है और कल्हण ने इस संबंध के

आँकड़े और भी अधिक मात्रा में तथा सप्रमाण छोड़े हैं। कल्हण काश्मीरी ब्राह्मण था। उसका पिता काश्मीर के राजा हर्ष (ईस्वी १०८६-११०१) का स्वामिभक्त अनुचर था। वह अपने स्वामी हर्ष की विपत्ति में भी उसके साथ बना रहा। हर्ष उस पर इतना विश्वास करता था कि अपनी हत्या के पूर्व उसने उसे ही अपना विश्वासपात्र बनाकर दौत्य के लिए चुना था। वह अपने स्वामी की मृत्यु के बहुत काल बाद तक जीवित रहा, परन्तु बाद में उसने राजनीतिक वातावरण छोड़ दिया। कल्हण सन् ११०० ईस्वी के लगभग जन्मा और पिता की राजनीतिक उदासीनता के कारण वह न तो राजसभ्य हो सका और न उसे काश्मीर का राजनीतिक वातावरण ही मिल सका। यदि उसका पिता राजनीतिक कार्यक्षेत्र में होता तो संभवतः कल्हण को भी मंत्रिपद प्राप्त हो जाता, परन्तु अब अधिकतर उसकी सम्भावना जाती रही। कल्हण का पितृव्य कनक भी हर्ष का स्वामिभक्त सेवक था। राजा संगीत का प्रेमी और उसका आचार्य था। कनक ने उससे संगीत सीखा और उसके शुल्क के ब्याज से राजा को एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट की। कल्हण संभवतः परिहासपुर का था। वहाँ की बुद्धमूर्त्ति को जब राजा ने क्रोधपूर्वक नष्ट करना चाहा तब कनक ने अपनी प्रार्थना से उसे प्रसन्न कर मूर्त्ति की रक्षा की। स्वामी की मृत्यु के पश्चात् कनक काशी चला गया। कल्हण और उसके पिता दोनों शिव के उपासक थे। कल्हण को काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय (प्रत्यभिज्ञा) और शैवशास्त्र प्रिय थे, परन्तु तान्त्रिक शैवों के प्रति उसके हृदय में आदर न था। बौद्ध धर्म के प्रति अवश्य उसकी प्रचुर श्रद्धा ज्ञात होती है और कतिपय काश्मीरी राजाओं की पशुहिंसानिवृत्ति की वह बड़ी प्रशंसा करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, और ऐसा उसके कथन से भी सिद्ध है, कि बौद्ध संप्रदाय के आचरण अब प्रायः हिन्दू-सिद्धान्तों के अनुकूल हो गए थे। तभी शैव होते हुए भी कल्हण को उस संप्रदाय के संबंध में अनुकूल भावना हो सकी। क्षेमेन्द्र ने स्वयं बुद्ध की दशावतारों में गणना करके उनकी स्तुति की थी और उसके काफ़ी पहले बौद्ध श्रमण विवाहित गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे थे। इस प्रकार अब आचार में बौद्धों और हिन्दुओं में बहुत अंतर न रह गया था।

काश्मीरी कवि मङ्ख ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' में कल्हण के संरक्षक अलकदत्त का नाम लिया है। कल्हण का संस्कृत नाम उसने अपने काव्य में 'कल्याण' दिया है। संभवतः इसी संरक्षक अलकदत्त के कहने से कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी के निर्माण में हाथ लगाया। कहना न होगा कि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। इसकी केवल संभावना ही मानी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण विद्वान् था और अपने पूर्व के कवियों तथा साहित्यकारों की कृतियाँ वह पढ़ चुका था। बिल्हण का उसे भली भाँति ज्ञान था और उसने उसके 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का उपयोग भी किया है। मङ्ख स्पष्टतया कहता है कि कल्हण की शैली इतनी परिमार्जित हो गई थी कि उसमें बिल्हण की काव्य-कला साफ़-साफ़ प्रतिबिम्बित होती थी। रामायण और महाभारत तो कल्हण के इष्ट ग्रन्थ रहे होंगे, क्योंकि उनके—विशेषकर महाभारत के—पात्रों की ओर वह बार-बार संकेत करता है। गणित और फलित ज्योतिष का भी वह जानकार मालूम होता है, क्योंकि उसने वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के प्रति कितने ही निर्देश किए हैं। इतिहास के प्रति निश्चय कल्हण की विशेष अभिरुचि रही होगी। जैसा कि उसकी राजतरङ्गिणी से व्यक्त है, काश्मीर का इतिहास रक्तमय था और उसका वह लहूलुहान रूप कल्हण के काल में अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था। कल्हण का समसामयिक राजनीतिक वातावरण अत्यन्त कलुषित और लोमहर्षक था। उससे जलते रक्त-मांस और चिरायँध की गन्ध आती थी! राजा हर्ष की हत्या के अनन्तर उसके शत्रुओं, उच्चल और सुस्सल, ने राज्य को परस्पर विभाजित कर लिया था। तत्कालीन काश्मीर में ज़मींदार डामरों के घराने बड़े शक्तिशाली थे। उच्चल ने फूट की शासन-नीति पर चलकर, डामरों को परस्पर लड़ाया और अपनी शक्ति क़ायम रखी। इस कार्य में उसका प्रमुख सहकारी गर्गचन्द्र था। इस काल में हत्याओं का काफ़ी बोलबाला था और हत्याएँ जितनी दरबारियों अथवा मंत्रियों की आसान थीं उतनी ही राजाओं की भी। वास्तव में, जहाँ एक राजा अपने पूर्ववर्त्ती की हत्या कर उसका राज्य हड़पता था, वहाँ वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए मानों आदर्श उपस्थित कर देता था, जिसको अपनाने में न उन्हें किसी प्रकार की असुविधा होती थी, न आशंका। हर्ष को मारकर उच्चल गद्दी पर बैठा था, परन्तु सन् ११११ ई० में राजकर्मचारियों के षड्यन्त्र से स्वयं उसकी भी हत्या हो गई। उसके हत्याकारियों में से रड्ड नामक एक व्यक्ति उसके बाद सिंहासन पर बैठा। पर वह उस कण्टकाकीर्ण स्थान पर एक दिन से अधिक न बैठ सका। उसके बाद गर्गचन्द्र ने प्रायः चार महीनों

तक राजा के बदले शासन चलाया, और तब शीघ्र उससे मैत्री स्थापित कर सुस्सल राजगद्दी पर जा बैठा, जिसके समय में काश्मीर विप्लव और मार-काट का केन्द्र बन गया। जब गर्गचन्द्र की भी हत्या कर डाली गई, तब भिक्षाचर के नेतृत्व में डामर उठ खड़े हुए। भिक्षाचर हर्ष का पौत्र था और उसने सुस्सल से गद्दी छीनकर प्रायः दो वर्ष (११२०-२१ई०) तक राज्य किया। पर सुस्सल ने शीघ्र उससे राज्यरज्जु लौटा ली। उसके राजकाल में फिर पहले जैसे ही उत्पात होने लगे और तब तक होते रहे जब तक सन् ११२८ ई० में वह स्वयं न मार डाला गया। मनोरंजक बात तो यह है कि उसकी हत्या उन्हीं षड्यंत्र-कारियों द्वारा हुई, जिन्हें उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या के लिए तैय्यार किया था। सुस्सल के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, परन्तु उसमें पिता की साहसिकता न थी। फिर भी कूटनीति और सामन्तों की मैत्री से उसने अपने हाथों में कुछ काल तक राजदण्ड बनाए रखा। दो साल बाद भिक्षाचर मार डाला गया, और उसके स्थान में एक नया हक़दार खड़ा हो गया। सन् ११३५ के बाद थोड़ी बहुत शान्ति रही, परन्तु ११४३ ईस्वी में फिर एक बखेड़ा खड़ा हो गया। उस साल कुमारभोज की अध्यक्षता में दरदों ने विद्रोह कर दिया। पर कूटनीति ने इस झगड़े को भी किनारे लगा दिया। इन्हीं दिनों सन् ११४६ ईस्वी में कल्हण ने राजतरङ्गिणी की रचना प्रारंभ की और वर्ष भर बाद ही उसने उसे पूरा कर लिया। कल्हण प्रायः काश्मीर की उथल-पुथल से दूर रहा। उसने अपना प्रसिद्ध इतिहास-काव्य राजा जयसिंहके समय में लिखा। परन्तु निस्सन्देह वह था वीरधर्मा, नितान्त निर्भीक। उसने अन्य दरबारी कवियों की भाँति समकालीन राजा के विरुद नहीं गाए, बल्कि अपने राजा के पिता और क्रूर-कर्मा काश्मीर के पूर्वनृपति सुस्सल के कृत्यों की घोर निन्दा ही की! काश्मीर की राजगद्दी के जयसिंह-कालीन हक़दार, लोठन और मल्लार्जुन, को भी उनके अनाचारों के कारण उसने आड़े हाथों ही लिया। हाँ, भिक्षाचर के प्रति उसका आदर-भाव प्रकट होता है, परन्तु इससे यह हरगिज़ न समझना चाहिए कि उस राजा द्वारा उपकृत होकर उसने ऐसा किया हो, क्योंकि उसके कथन से स्पष्टतया प्रमाणित है कि भिक्षाचर के मितकालिक शासन में कल्हण के कुल को किसी प्रकार का लाभ राजकुल की ओर से नहीं हुआ। इसी प्रकार भोज के प्रति भी उसकी सहानुभूति प्रकट होती है।

कल्हण की मेधा ने इतिहास के आँकड़ों को पक्षपात-रहित दृष्टिकोण से देखा, विशेषकर समसामयिक सामग्री को, जबकि संभावना इस बात की हो सकती थी कि वह स्वयं तात्कालिक संघर्ष में खिंच जाता अथवा कम-से-कम उस संघर्ष के पात्रों के प्रति उसका रागद्वेष उसे अपने इतिहास में उनके प्रति विशेष सद्भाव या शत्रुभाव रखने को बाध्य करता। पक्षपातरहित होकर इतिहास लिखने का एक कारण उस समसामयिक संघर्ष से उसका दूर रहना भी था। उसने स्वयं काश्मीरी चरित्र को यथातथ्य सुन्दर, वञ्चक और चञ्चल कहा है। वह काश्मीरी सेना की कायरता की खूब भर्त्सना करता है और कहता है कि यदि किसी प्रकार कोई व्यक्ति राजा की हत्या कर सका तो अप्र-यास राजप्रासादरक्षक, सेना और राजकर्मचारी सभी उसके अनुचर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध विदेशी सैनिकों और राजपुत्रों को वह वीर और विश्वासपात्र कहता है। नागरिकों को वह प्रमादी, विलासी, वञ्चक और चञ्चल कहता है। डामरों ने काश्मीर की प्रजा पर क्रूरतापूर्ण अत्याचार किए थे, सारे देश को उजाड़ कर दिया था। स्वयं कल्हण के कुटुम्ब को उनके हाथों बहुत-कुछ झेलना पड़ा था। अतः कल्हण ने उनकी क्रूरता और अत्याचार का लोमहर्षक और हृदय-विदारक वर्णन किया है। साथ ही पदाधिकारी वर्ग को भी उसने नहीं छोड़ा है। उसे आड़े हाथों लेते हुए उसके लोभ, तृष्णा, देश-द्रोहिता और क्रूरता का खुला वर्णन उसने किया है। पुरोहितों की भी उसने बड़ी निन्दा की है। इनके पास दान में मिली अथवा देवोत्तर सम्पत्ति होती थी, जिससे ये ऐश्वर्य में रहते थे और लोगों को अनशन (प्रायोपवेश) की धमकी देकर मनमानी करते थे। पर जो भले थे उनकी भलाई ने भी कल्हण को आकर्षित किया और वह रिल्हण और अलङ्कार नामक मंत्रियों की काफ़ी प्रशंसा भी करता है। अलङ्कार तो मङ्ख के कथनानुसार कवियों का संरक्षक भी था। स्वयं मङ्ख का उल्लेख कल्हण ने केवल मंत्री की हैसियत से किया है, कवि की हैसियत से नहीं। अन्तपाल उदय के प्रति उसका बड़ा आदर है। काश्मीर की गद्दी के दोनों हक़दार, भोज और राजवदन, कल्हण के मित्र जान पड़ते हैं। इनमें से राजवदन ने राजा जयसिंह पर आक्रमण किया था। इन सब आँकड़ों से जान पड़ता है कि कम-से-कम समसामयिक और शीघ्र-पूर्व के काश्मीरी इतिहास की प्रचुर सामग्री कल्हण के हाथ में थी। इसमें सन्देह नहीं कि राजतरङ्गिणी में भी भ्रान्तियाँ हैं, प्रचुर और गम्भीर; परन्तु कल्हण ने अपनी ओर से सामग्री के संग्रह

में पर्याप्त प्रयास और परिश्रम किया है। उसका दृष्टिकोण पक्षपातरहित है और उसकी त्रुटियाँ अधिकतर ऐसी ही हैं, जो कल्हण की व्यक्तिगत नहीं प्रत्युत् भारतीय जाति की हैं।

राजतरङ्गिणी की सामग्री और उसका ऐतिह्य—कल्हण के कथनानुसार पहले काश्मीर में इतिहास की सामग्री पर्याप्त थी। उस पर लिखे हुए अनेक ग्रन्थ थे, जो कालान्तर में नष्ट हो गए थे। सुव्रत नामक एक कवि ने उनमें से अनेक की सामग्री को काव्यबद्ध भी किया था। कल्हण ने प्राचीन विद्वानों के ग्यारह ग्रन्थों से अपने काव्य के लिए सामग्री ली। इनके अतिरिक्त काश्मीर का 'नीलमतपुराण,' जो आज भी प्राप्त है, नामक ख्यातों का भण्डार भी उसे उपलब्ध था। बिल्हण का 'नृपावलि' नाम का एक ग्रन्थ भी कल्हण के सामने था, यद्यपि वह उसकी ऐतिहासिक असावधानी की निन्दा करता है। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। राजतरङ्गिणी के पहले अध्याय में पैंतीस राजाओं के लुप्त प्रसंगों के बाद लव आदि आठ राजाओं के प्रसंग आते हैं। उनके संबंध की सामग्री कल्हण को पद्ममिहिर से मिली थी और स्वयं पद्ममिहिर का भण्डार पाशुपत हेलाराज की कृति थी, जो तरङ्गिणीकार के समय तक नष्ट हो चुकी थी। अशोक-संबंधी सामग्री छविल्लाकर नामक एक ग्रन्थकार से मिली थी। इनके अतिरिक्त कल्हण ने प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से भी ऐतिहासिक मसाला प्राप्त किया था। मन्दिरों, राजप्रासादों, दानादि के ताम्रपत्र, प्रशस्तियों के लेखों और प्राचीन हस्तलिपियों से भी उसने काफ़ी सामग्री एकत्र की थी। अपने देश के कोने-कोने का वह जानकार था और आधुनिक इतिहासकार की भाँति उसने सिक्कों और विविध कुलों के कागज़-पत्रों को भी देखा-भाला था। कल्हण कहता है कि आरंभ के ५२ राजाओं का उल्लेख प्राचीनों ने नहीं किया था। उनमें से पहले चार का उसने 'नीलमतपुराण' से, लुप्त पैंतीस राजाओं के बाद के आठ का हेलाराज से और बाद के पाँच का छविल्लाकर से पुनरुद्धार किया। पहला राजा गोनन्द उसी वर्ष राज्याभिषिक्त हुआ, जिस वर्ष युधिष्ठिर ने राज्यारोहण किया था। राज्यतरङ्गिणी का तिथिक्रम अभाग्यवश गोनन्द और युधिष्ठिर की असंभावित समसामयिकता पर बाँधा गया है। यह गोनन्द मथुरा के कृष्ण पर आक्रमण करता है और बलराम द्वारा मारा जाता है। उसका पुत्र दामोदर अपने पिता का बदला लेना चाहता है, पर मारा जाता है। उसकी गर्भवती स्त्री को कृष्ण गद्दीपर बिठा देते हैं। गोनन्द बालक होने के कारण महाभारत-युद्ध में शामिल नहीं हो सकता। तीसरे अध्याय में गोनन्द तृतीय को काश्मीरी राजपरम्परा का आरंभिक पुरुष माना गया है। पहले अध्याय में अन्य राजाओं के साथ राजा अशोक के पुत्र जलौक का उल्लेख है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। फिर वहीं कुषाण राजाओं के नाम—हुष्क, जुष्क और कनिष्क—उलटे क्रम से मिलते हैं। महाभाष्य के अध्ययन का पुनरुद्धार करनेवाले राजा अभिमन्यु के समय में एक ब्राह्मण नीलनाग की सहायता से काश्मीर की बौद्धों और हिम से रक्षा करता है। दूसरे अध्याय में राजाओं का एक नया कुल चलता है, जो अनैतिहासिक प्रतीत होता है। तीसरे अध्याय में गोनन्द की शाखा फिर चलती है। मेघवाहन उसी कुल का बताया जाता है। आगे एक नई तालिका चलती है, जिसमें कवि मातृगुप्त के अल्पकालिक राज्य का निर्देश है। इसी समय छठी सदी ईस्वी के मालव शीलादित्य का हवाला मिलता है। आश्चर्य यह है कि गोनन्द की कुल-परम्परा में ही तोरमाण राज्य करता है और हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि तोरमाण हूण था, जिसका पिता मिहिरकुल बालादित्य द्वारा भारत में हराया गया था। उसकी तिथि ७०० वर्ष ई० पूर्व दी हुई है! बालादित्य के बाद दुर्लभवर्धन प्रथम राज करता है। इस नए कुल के साथ ऐतिहासिक युग के सही आँकड़ों का प्रवाह चलता है। यह सातवीं सदी का काल है। दुर्लभवर्धन शायद हुएनत्सांग का समकालीन था। काश्मीर के लौकिक संवत् (३०७६-७५ ई० पू०) का प्रयोग पहले-पहल चिप्पट जयापीड़ अथवा बृहस्पति के संबंध में किया गया है। उसे कल्हण ८०१-१३ ईस्वी में रखता है, जो प्रमाणतः अशुद्ध है, क्योंकि 'हर-विजय' का रचयिता रत्नाकर स्पष्टतया कहता है कि उसने अपना ग्रंथ जयापीड़ की संरक्षता में लिखा, यद्यपि कल्हण लिखता है कि रत्नाकर अवन्तिवर्मा के समय में था और निस्संदेह अवन्तिवर्मा ने ८५५ ई० में राज्यारोहण किया। यह २५ से ५० वर्षों की स्पष्ट भूल है। उत्पल के पौत्र और सुखवर्मा के पुत्र अवन्तिवर्मा ने इस कुल का अन्त किया। अवन्तिवर्मा साधारण परिवार का था और उसके समय से राजतरङ्गिणी का इतिहास स्पष्ट और पर्याप्त शुद्ध हो जाता है। अध्याय पाँच में इस कुल का इतिहास ईस्वी ६३९ तक चलता है और छठे में सन् १००३ में रानी दिद्दा के साथ इस वंश का अन्त होता है। दिद्दा की मृत्यु के बाद लोहर कुल का उसका भतीजा काश्मीर के सिंहासन पर आरूढ़ होता है। सातवें अध्याय में हर्ष का लोम-

हर्षक अन्त वर्णित है और आठवें में उच्चल के समय से ५० वर्षों बाद तक का पूरा इतिहास है। यहाँ कल्हण ने फिर एक भूल की है। त्रिलोचनपाल ने महमूद ग़ज़नवी के विरुद्ध जो राजाओं का एक दल प्रस्तुत किया था, उसमें काश्मीर भी शामिल हुआ था और कल्हण तुंग की अध्यक्षता में शाहिराजा की सहायता के लिए भेजी गई काश्मीरी सेना का हवाला तो देता है, परन्तु उसके बाद के ही १०१५ ईस्वी के मुसलमानों द्वारा काश्मीर पर आक्रमण के प्रति वह संकेत तक नहीं करता! यह आक्रमण लोहर कुल के प्राचीन दुर्ग द्वारा रोक लिया गया और मुसलमान लौट गए। परन्तु कल्हण की तत्संबंधी चुप्पी इस बात को प्रकट करती है कि वह उस प्रबल प्रवाह की शक्ति को समझ न सका था, जिसने भारत को आगे चलकर अपनी ऊँची लहरों में डुबा लिया।

कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण—कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण निस्सन्देह वैज्ञानिक नहीं है। निश्चय ही इस दृष्टि से न तो वह आधुनिक ऐतिहासिकों की पंक्ति में खड़ा हो सकता है और न हिरोडोटस, लिवि और प्लिनी आदि प्राचीन विदेशी इतिहासकारों की पंक्ति में ही। इससे यह हरगिज़ न समझना चाहिए कि स्वयं हिरोडोटस आदि आधुनिक ऐतिहासिकों की श्रृंखला में हैं। स्वयं हेरोडोटस ने अनेक गढ़ी हुई गप्पों को इतिहास की सच्ची घटनाओं का कलेवर दे दिया है! एक स्थल पर वह भारत में होनेवाले दो पूँछोंवाले सिंह का उल्लेख करता है और दूसरी जगह यहाँ की दीमकों की उँचाई वह लोमड़ियों के बराबर बताता है! कल्हण को हम जानबूझकर ऐतिहासिक भूलों का सृष्टिकर्त्ता नहीं कह सकते। जो कुछ उसकी भूल है वह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यक्तिपरक नहीं, जातिपरक है। यदि वह ऐतिहासिक घटनाओं के परिघटन में प्रारब्ध की परिणति और पूर्वकर्मों का फल देखता है तो वास्तव में वह केवल भारतीय विश्वास-परम्परा की ही श्रृंखला का वहन करता है, ऐतिहासिक वृत्ति को विकृत करने का प्रयास नहीं। इसके साथ ही उसका एक अन्य मौलिक दोष यह है कि प्राचीन किंवदन्तियों और पौराणिक गप्पों को वह इतिहास की सामग्री मानता है। वह ३०० वर्ष तक राजा के राज्य करने की कल्पना भी कर सकता है! प्राचीन अंधविश्वासों और अप्रमाणित ख्यातों को आरंभ के इतिहास में वह घटी घटनाओं की श्रेणी में ही स्वीकार कर लेता है! पुरश्चरण से मृत्यु हो सकती है, ऐसा भी उसका विश्वास है! फिर भी पिछले इतिहास की श्रृंखला प्रस्तुत करने में उसने ऐतिहासिक युक्ति और प्रयास दोनों का अद्भुत सहारा लिया है। वह पक्षपातरहित दृष्टि से अपने पात्रों को देखता है। उसके चरित्र औचित्य की कसौटी पर कसे जाते हैं। यद्यपि राजा हर्ष उसके पिता और पितृव्य दोनों का ही संरक्षक था तथापि उसकी सशक्त आलोचना करने से वह नहीं चूकता। बाद के युद्धों और स्थल-वर्णनों के संबंध में तो उसकी जानकारी नितान्त अपूर्व है। काश्मीर का कोना-कोना जैसे उसका जाना हुआ है। इस दृष्टि से वह लिवी से कहीं ऊपर उठ जाता है, क्योंकि वह रोमन इतिहासकार कमरे में बैठा-बैठा ही इतिहास का निर्माण करता था—उन सैकड़ों युद्धों में से किसी का घटनास्थल उसने न देखा था, जिनका उसने वर्णन किया है। कल्हण पश्चात्कालीन प्रत्येक युद्ध के घटनास्थल से सुपरिचित था। कल्हण सचमुच भारत का पहला और प्रबल इतिहासकार है, यद्यपि उसकी त्रुटियाँ कम नहीं है। इस संबंध में पद्मगुप्त, बिल्हण और उनके पूर्ववर्ती बाण को उसने कोसों पीछे छोड़ दिया है।

राजतरङ्गिणी की काव्य-शैली—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण अन्य कवियों की भाँति नहीं था और उसने अपने ग्रन्थ को उनके आधार पर लिखा भी नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह काव्य नहीं बल्कि इतिहास लिख रहा था। इसी कारण उसके लिए कल्पना में रमण करने की गुंजायश नहीं थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह चाहता तो पूरा-पूरा काव्यनिरूपण भी कर सकता था, इसकी उसमें क्षमता थी। युधिष्ठिर के वनगमन और सुस्सल के राजधानी-प्रवेश के विवरण निश्चय ही ऐसे चित्रण हैं, जिनसे उसकी काव्य-क्षमता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु साधारणतः उसका शेष काव्य गद्यपरक-सा ही है, काव्यांकन से अपरिचित-सा। फिर भी स्थल-स्थल पर राजतरंगिणी प्रसाद, व्यञ्जना, और शक्ति की परिचायिका है। इस प्रकार के कुछ स्थल हिममण्डित पर्वत पर दरदों के प्रति भोज के प्रयाण, अनन्त के दाह और सती सूर्यमती के चितारोहण, ब्राह्मणों के कथोपकथन, जयापीड़ के चरित्र और हर्ष के विपद्वर्णन आदि में हमें दिखाई देते हैं। कई स्थानों पर तो नाटकीय संवाद का-सा दृश्य उपस्थित होता है। अपने कथा-प्रवाह को कल्हण अनेक उपमाओं, विरोधी भावों, श्लेषों और अन्य अलंकारों से सजाता है। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।

स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रह-
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥
येऽप्यासन्निभकुम्भशायितपदा येऽपिश्रियं लेभिरे
येषामप्यवसन्पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः ।
तॉंल्लोकोऽयमवैति लोकतिलकान्स्वप्नेऽप्यजातानिवः
भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्त्वां विना ॥

कर्मों का निश्चितफल नीचे के श्लोक में तारापीड़ के संबंध में कहा गया है—

यो यं जनापकरणाय सृजत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद्विनाशः ।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुदः स शमयेत्सलिलैस्तमेव ।

देवी भ्रमवासिनी का एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

भास्वद्बिम्बधरा कृष्णकेशी सितकरानना ।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा ॥

५. अन्य ऐतिहासिक काव्य

भारतीय इतिहास-काव्य के क्षेत्र में कल्हण अकेला है। पद्मगुप्त, बिल्हण आदि ने जो प्रयास किए, उन्हें शायद इतिहासपरक तो कुछ हद तक कह सकते हैं, परन्तु इतिहास वे किसी रूप में नहीं हैं। कुछ और प्रयास बिल्हण आदि की ही भाँति औरों ने भी किए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

जल्हण नामक एक और काश्मीरी कवि ने 'सोमपाल-विलास' नामक एक ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मंख जल्हण को अलंकार की राजसभा का सभ्य कहता है। सोमपालविलास (सोमपाल नहीं) राजपुरी के राजा का नाम था, जिसे काश्मीरराज सुस्सल ने पराजित किया था। जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने भी अन्हिलवाड़ा के चालुक्य नृपति कुमारपाल पर लगभग ११६३ ईस्वी में अपना 'कुमारपालचरित' अथवा 'द्वयाश्रय काव्य' नामक इतिहास-काव्य लिखा। इस काव्य के दो नाम होने का एक कारण है। 'द्वयाश्रय काव्य' इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें दो भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। यह २८ सर्गों में प्रस्तुत है, परन्तु इसके पहले २० सर्ग संस्कृत में और शेष आठ प्राकृत भाषा में हैं। इसके अतिरिक्त यह द्वयार्थक भी है, इस प्रकार कि यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का उपसंहार-सा है। इसमें संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के नियमों के उदाहरण और स्पष्टीकरण हैं। चालुक्यों के इतिहास पर यह काव्य कुछ प्रकाश डालता है। कुमारपाल के पूर्वजों का भी इसमें थोड़ा बहुत समावेश है। परन्तु जैन होने के कारण हेमचन्द्र सब बातों को जैन दृष्टिकोण से ही देखता था। अधिकतर उसने कुमारपाल के उन्हीं कृत्यों का वर्णन किया है, जिनमें जैन-धर्म का प्रचार दर्शित है। इस काव्य से ज्ञात होता है कि कुमारपाल की जैनधर्म की ओर प्रवृत्ति हो गई थी, उसने जीवहिंसा के लिए कठोर से कठोर दण्ड घोषित किया था, और अनेक जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। उसकी नीति जैनधर्मानुकूल थी।

अज्ञातनामा कवि द्वारा रचित एक और ऐतिहासिक काव्य 'पृथ्वीराजविजय' नाम का उपलब्ध है। इसकी जो अकेली हस्तलिपि मिली है वह असमाप्त है, जिससे यह कहना कठिन है कि इसे कवि ने अपूर्ण ही छोड़ दिया था अथवा कालान्तर में इसका अन्त्यांश नष्ट हो गया है। जो भी हो, यह काव्य चौहानवंशीय पृथ्वीराज तृतीय की शहाबुद्दीन ग़ोरी पर विजय पर अवलंबित है। यह विजय ११९१ ईस्वी में पृथ्वीराज को प्राप्त हुई थी और यदि यह इतना ही लिखा गया तो इसे इस विजय के शीघ्र बाद ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि इसमें अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर होनेवाली मुहम्मद ग़ोरी की विजय और उसके निधन की बात नहीं लिखी गई है। इसका कवि अधिकतर बिल्हण की शैली का अनुसरण करता है, इससे जान पड़ता है कि वह काश्मीरी रहा होगा, यद्यपि इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। जयरथ ने इस काव्य का उल्लेख अपनी पुस्तक 'अलङ्कारविमर्शिनी' (लगभग १२०० ई०) में किया है। काश्मीर के जोनराज (लगभग १४४८ ई०) ने इस पर एक टीका भी लिखी है।

गुजरात में बघेल राजपूतों के घराने में लवणप्रसाद और वीरधवल नामक दो राजा हो गए हैं। उनका वस्तुपाल नामक एक मंत्री था, जिसके प्रोत्साहन से दो काव्य लिखे गए, जिनमें से एक 'कीर्त्तिकौमुदी' स्वयं उसी की प्रशस्ति है। 'कीर्त्तिकौमुदी' का रचयिता सोमेश्वरदत्त है। सोमेश्वरदत्त (११७९-१२६२ ई०) ने कितने ही उत्कीर्ण प्रशस्ति-लेखों की भी रचना की थी, जिनमें उसकी 'कीर्त्ति-कौमुदी' के अनेक श्लोक मिलते हैं। उसी कवि ने पन्द्रह सर्गों में 'सुरथोत्सव' नाम का एक और काव्य लिखा, जो वस्तुतः है तो पुराणपरक, पर जिसमें श्लेष रूप में तात्कालिक राजनीतिक दशानिरूपण भी किया गया जान पड़ता है। इसके अन्त में कवि ने बाण और बिल्हण की भाँति अपने कुल की कथा भी दी है और वस्तुपाल का भी उल्लेख किया है।

इस तेरहवीं सदी में ही अरिसिंह नाम का एक और कवि हुआ, जिसने 'सुकृतसंकीर्त्तन' लिखा। ग्यारह सर्गों में प्रस्तुत यह सोमेश्वरदेव की प्रशस्ति है। सन् १२५६-५८ में गुजरात में एक दुर्भिक्ष पड़ा था। उसमें एक पुण्यात्मा जैन गृहस्थ ने लोगों की बड़ी सहायता की थी और नगर की प्राचीरें उठा दी थीं। उसकी प्रशस्ति में सर्वानन्द ने अपना 'जगडूचरित' लिखा। सात सर्गों में संपन्न यह काव्य कविता की दृष्टि से नितान्त नगण्य है। काश्मीर के राजा हर्षदेव की राजसभा में शम्भु नामक एक कवि था। उसने भी 'राजेन्द्रकर्णपूर' नामक एक प्रशस्ति-काव्य अपने राजा के संबंध में लिखा। साथ ही 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक' नामक एक और साधारण काव्य भी उसने लिखा था। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' को जहाँ समाप्त किया है उसके आगे भी ऐतिहासिक वृत्तान्त के क्रम से अनुवृत्ति जोड़ी जाती रही। जोनराज (मृत्यु १४५९ ईस्वी) ने सुल्तान ज़ैनुल आबिदीन के समय तक का ऐतिहासिक विवरण इसमें जोड़ा और उसके शिष्य श्रीवर ने चार अध्यायों में अपनी 'जैन-राजतरङ्गिणी' लिखकर सन् १४५९ से १४८६ तक का वृत्तान्त पूरा किया। उसके बाद प्राज्य भट्ट और उसके शिष्य शुक ने 'राजावलिपताका' में अकबर द्वारा काश्मीर-विजय तक का ऐतिहासिक विवरण जोड़ा। कहना न होगा कि कल्हण के बाद के इन कवियों में जोनराज को छोड़कर न इतिहासकार की सूझ है और न काव्य की चित्तहारिणी शैली ही। इनमें से कइयों ने तो स्वयं कल्हण के ही कितने प्रसंगों की नक़ल कर ली है।

बिल्हण और कल्हण ने जिस इतिहास-परम्परा का निर्माण किया था, वह एक प्रकार से काश्मीरी थी। कालान्तर में वह सर्वथा टूट ही गई। बाद में कुछ प्रयास हुए भी, परन्तु यदि उनमें किसी अंश तक कविता थी भी, तो इतिहास न था। उस काल के कवियों ने अधिकतर लालबुझक्कड़ी का सहारा लिया। उनमें इतिहासकार की मेधा न थी। कल्हण के पूर्व भी जो ऐतिहासिक प्रयत्न हुए थे, वे अत्यन्त असन्तोषजनक थे। उनमें बाण का 'हर्षचरित', जो गद्य में है और जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे, विशिष्ट है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह भी असन्तोषजनक है। ये ऐतिहासिक काव्य अधिकतर अपनी सामग्री के साथ मनमानी करते हैं। जब वे शिलालेखों आदि के अनुकूल हों तभी उनकी सत्यता कुछ अंश तक असंदिग्ध हो सकती है, और सो भी कुछ ही अंश तक, क्योंकि स्वयं शिलालेख भी प्रायः प्रशस्तियों ही के रूप में हैं।

उत्तरकाल—गेय और सुभाषितादि

उत्तरकालीन काव्य अवश्य करके बाद का ही नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह समय के बजाय परम्पराबोधक अधिक है। इस उत्तरकालीन कविता में हम शृंगारिक, गेय-सुभाषितादिक, धार्मिक और नीतिपरक रचनाओं पर विचार करेंगे।

१. शृंगारिक

शृंगार के प्रसंग के कुछ काव्यों और रचनाओं का हवाला हम ऊपर दे आए हैं। यहाँ उत्तरकालीन और अन्य फुटकर शृंगारिक कविताओं का अध्ययन उपादेय होगा। शृंगारिक कविताओं से तात्पर्य उन गार्हस्थ्य कविताओं से है, जिनका इष्ट काम है। ऐसी रचनाओं की संख्या थोड़ी नहीं, अत्यन्त अधिक है और स्थानाभाव से यहाँ उनका केवल संक्षिप्त निरूपण ही किया जायगा।

कालिदास के नाम पर जो अनेक कविताएँ हमें आज उपलब्ध हैं, उनमें एक विशिष्ट रचना 'शृंगारतिलक' है। निस्संदेह यह रचना कालिदास की नहीं है। फिर भी इसमें सौन्दर्य और मिठास है। इसमें प्रणयपरक २३ श्लोक हैं। इसी प्रकार का, यद्यपि इससे अरोचक, एक काव्य घटकर्पर का है। २२ श्लोकों में प्रस्तुत इस काव्य का नाम भी 'घटकर्पर' ही है। इसमें वर्षागम पर एक नवयौवना प्रोषितपतिका मेघ द्वारा पति के समीप संदेश भेजती है। इसे पढ़ते ही कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण हो आता है। अन्तर केवल इतना है कि मेघदूत में पति अपनी पत्नी के पास संदेश भेजता है और इसमें उसके विपरीत पत्नी ही पति के पास संवाद भेजती है। निस्सन्देह इस पर 'मेघदूत' का प्रभाव पड़ा है। रचना का शीर्षक 'घटकर्पर' इसलिए पड़ा है कि कवि अन्त में प्रण करता है कि यदि कोई उससे यमकों के प्रयोग में बढ़ जाय तो वह उसके लिए टूटे घड़े में पानी ढोए! जैकोबी ने घटकर्पर को कालिदास का पूर्ववर्त्ती कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसा स्वीकार करना कठिन है। किंवदन्ती के अनुसार भी अधिक-से-अधिक उसे कालिदास का केवल समकालीन

होना चाहिए, क्योंकि उसका नाम भी विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाया जाता है। परन्तु जैसे अन्य रत्न परस्पर अथवा विक्रमादित्य के समकालीन नहीं, प्रायः बाद के हैं, वैसे ही यह भी बाद का हो सकता है। यह बात विशेषकर न भूलनी चाहिए कि 'घटकर्पर' का पूर्ववर्त्ती मेघदूत है। कवि घटकर्पर का संबंध 'नीतिसार' नामक २१ श्लोकों की एक और रचना से भी है, जो उसकी मानी जा सकती है।

इस कवि के बाद कालक्रम से अन्य स्थान मयूर का है, जो सातवीं सदी के राजा हर्षवर्धन का सभासद था। किंवदन्तियाँ मयूर को बाणभट्ट का साला या ससुर घोषित करती हैं। कहते हैं कि अपनी कन्या (बाण की पत्नी) का सौन्दर्य-वर्णन करने के कारण उसके द्वारा अभिशप्त हो वह कोढ़ी हो गया और जब उसने 'सूर्यशतक' लिखकर सूर्य की स्तुति की तभी उस रोग से वह छूट सका। कहानी इस प्रकार है। मयूर कोई रचना लेकर सुबह ही बाण के पास पहुँचा। बाण की स्त्री मान कर रही थी और पति उसे मना रहा था, वह साथ ही एक श्लोक भी रच रहा था। इस श्लोक के तीन चरण तो बाण ने रच लिए थे, पर चौथा नहीं बन रहा था। वह बार-बार अपने तीनों चरणों को दोहराता, फिर भी चौथा बन न पड़ता। मयूर आकर चुपचाप उसे थोड़ी देर तक तो सुनता रहा, फिर उसे चौथा चरण फट सूझ गया और उसने बाण को उसे सुना दिया। इस पर उसकी कन्या या भगिनी ने उसे शाप दे दिया।

इसी प्रकार की कविता फिर जयदेव के समकालीन गोवर्धन की भी मिलती है। गोवर्धन की रचना की जयदेव ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने आर्या छन्द में ७०० श्लोकों का एक अपूर्व संग्रह लिखा और इनको उसने वर्णानुक्रम से उसमें स्थान दिया। ये फुटकर कविताएँ हैं, जिनका प्रबन्ध की भाँति परस्पर संबंध नहीं है। इस संग्रह को 'आर्यासप्तशती' कहते हैं और इसका आदर्श पहली सदी के सातवाहन राजा हाल की 'सत्तसई' (गाथा सप्तशती) था। गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' से ही मसाला लेकर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल ने सत्रहवीं शताब्दी में अपनी 'सतसई' लिखी और इस हिन्दी सतसई के आधार पर फिर परमानन्द नामक एक संस्कृत-कवि की 'शृंगार सप्तशतिका' नाम की एक रचना हुई। गोवर्धन के उदयन और बलभद्र नामक दो भाइयों ने उसकी कृति को प्रकाशित दिया, परन्तु पाठ की अशुद्धियाँ इस सप्तशती में काफ़ी हैं।

सुभाषितों में पाणिनि नामक एक कवि की भी कविता जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। यद्यपि यह भारतीय अनुश्रुति है कि वैयाकरण पाणिनि कवि भी थे, परन्तु कुछ विद्वानों ने वैयाकरण पाणिनि और कवि पाणिनि को भिन्न माना है, विशेषकर इसलिए कि इन रचनाओं में व्याकरण की त्रुटियाँ हो गई हैं। परन्तु ये अशुद्धियाँ वास्तव में मूल पाठ में भी थीं कि नहीं यह कहना कठिन है। सुभाषितों में भी उन्हीं कविताओं का संग्रह किया गया जो लोगों के मुख में थीं और इस प्रकार उनमें त्रुटियाँ हुए बिना नहीं रह सकती थीं, मूल में वे रही हों या न रही हों। फिर जिस कवि ने पाँचवीं सदी ईस्वी से पूर्व में लिखा हो, उसकी रचनाओं में कालान्तर में पाठ बदल जाने से त्रुटियाँ होना संभव है। पर इन त्रुटियों के अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी इन दोनों को दो भिन्न व्यक्ति मानने का हो सकता है। वह है भाषा का प्रश्न। पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि की भाषा काव्यकालीन भाषा से अवश्य भिन्न रही होगी। उनके कई सौ वर्ष बाद लिखे कौटिलीय अर्थशास्त्र अथवा भरत के नाट्यदर्पण की भाषा पर्याप्त पुरानी स्पष्टतः जान पड़ती है, परन्तु सुभाषित के पाणिनि की भाषा निस्सन्देह काव्यकालीन है। उसमें और अन्य उत्तर अथवा मध्यकालीन कवियों में ध्वनि अथवा लक्षण में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह मानना पड़ता है कि दोनों संभवतः दो व्यक्ति थे।

सुभाषितों में अनेक श्लोक तो अज्ञातनामा कवियों के हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें विविध कवियों का बताया गया है। इस स्थिति में कौन श्लोक किस कवि का है यह बताना असंभव है। नीचे का श्लोक कितना सुन्दर है—

> अङ्कुरिते पल्लविते कोरकिते विकसिते सहकारे।
> अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितो विकसितश्च मदनः॥

प्रसाद, मधुरता, लालित्य और मृदुलता में यह बेजोड़ है। एक और नमूना देखिए—

> अच्छिन्नं नयनाम्बुबन्धुषुकृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता,
> दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
> अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते,
> विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया॥

इसमें परितोष के साथ-ही-साथ परिहास का भी पुट है। नीचे का वर्णन भी कितना सशक्त है—

> उदयगिरिसौधशिखरे ताराचयचित्रिताम्बरविताने।
> सिंहासनमिव निहितं चन्द्रः कन्दर्पभूपस्य॥

नीचे के श्लोक में विरह और संयोग के मन्थर और शीघ्रगामी दिनों के विरोधी भाव संचित हैं। रात्रि की बड़े ढंग की इसमें निन्दा से गई है—

प्राग्यामिनि प्रियवियोगविपत्तिकाले
त्वय्येव वासरशतानि लयंगतानि।
दैवात्कथं कथमपि प्रियसं गमेऽद्य
चण्डालि किं त्वयि वासर एव लीना॥

निम्नलिखित श्लोक में इसी प्रकार अन्य एक कवि ने करुणारस का कितना सुन्दर प्रवाह किया है—

भीमेनात्र विजृम्भितं धनुरिह द्रोणेन मुक्तं शुचा
कर्णस्यात्र हया हता रथपतिर्भीष्मोऽत्र योद्धुं स्थितः।
विश्वं रूपमिहार्जुनस्य हरिणा संदर्शितं कौतुका—
दुद्देशास्त इमे न ते सुकृतिनः कालो हि सर्वंकषः॥

सुभाषितों में सातवीं सदी के बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति की रचनाएँ भी मिलती हैं। ये रचनाएँ अमरु और भर्तृहरि के संग्रहों में भी हैं। धर्मकीर्त्ति नास्तिक और प्रबल तार्किक था। बौद्ध दार्शनिकों में उसकी जोड़ के कम विद्वान् हैं। कुछ कम कुतूहल का विषय नहीं कि उसने भी कविता की है। पर उनमें भी उसके तर्क और आलोचनात्मिका प्रवृत्ति के पुट मिलते हैं। रामायण और महाभारत में वर्णित वाल्मीकि और व्यास के कुछ प्रसंगों की, असंभाविता के कारण, उसने निचले श्लोक में खिल्ली उड़ाई है—

शैलैर्बन्धयतिस्म वानरहतैर्वाल्मीकिरम्भोनिधिं
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयोरत्युक्तिरुद्भाव्यते।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाप्यस्मत्प्रबन्धानयं
लोको दूषयितुम्प्रसारितमुखस्तुभ्यम्प्रतिष्ठे नमः॥

इसी युग के कवि शाश्वत का एक श्लोक असाधारण परिमित शब्दों में मिलता है—

स मे समासमो मासः समे माससमा समा।
यो यातया तया याति या यात्यायातया तया॥

"वह मास मुझे वर्षवत् प्रतीत होता है, जो उसके जाने पर आता है। इसके विपरीत वह वर्ष मासवत् जान पड़ता है, जो उसके लौटने पर आता है।"

अन्य एक कवि ने नीचे के श्लोक में वैद्य के ऊपर कैसा अच्छा व्यंग किया है! वह कहता है कि 'हे मानवसंहारक वैद्यनाथ, तुम्हें नमस्कार है। कृतान्त (मृत्यु) तुम्हारे ऊपर अपना भार डालकर स्वयं सुखपूर्वक सोता है।'—

वैद्यनाथ नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव।
त्वयि विन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते॥

२. सुभाषित

सुभाषितावलियों से कुछ उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। इनमें गेय और नीतिपरक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ संगृहीत हैं। ये स्वयं तो पर्याप्त पश्चात्कालीन हैं, पर इनमें संगृहीत रचनाएँ निस्सन्देह पुराने कवियों की हैं। इनमें से प्राचीनतम संग्रह 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' है। इसको बारहवीं सदी की एक नैपाली हस्तलिपि से शुद्ध करके श्री एफ० डबल्यू० टामस ने छापा है। इस संग्रह के ५२५ श्लोकों में से किसी का भी कवि १००० ईस्वी के बाद का नहीं है। वटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने १२०५ ईस्वी में 'सदुक्ति-कर्णामृत' अथवा 'सूक्तिकर्णामृत' नामक एक और संग्रह प्रस्तुत किया। ये पिता-पुत्र दोनों बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन और सेवक थे। 'सदुक्तिकर्णामृत' में ४४६ कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। ये कवि अधिकतर बंगाल के ही हैं। कवि गंगाधर भी इन्हीं में से एक है। इस संग्रह के पाँच कवि १०५० ईस्वी और ११५० के बीच के हैं।

काश्मीरी कवि जल्हण ने भी 'सुभाषितमुक्तावली' नामक एक संग्रह प्रस्तुत किया था, जो आज लघु और बृहत् दो आकारों में मिलता है। जल्हण लक्ष्मीदेव का पुत्र था और पिता-पुत्र दोनों बारी-बारी से कृष्ण के मंत्री हुए। कृष्ण ने १२४७ ईस्वी में राज्यारोहण किया था। इस संग्रह में कवियों और उनकी रचनाओं के संबंध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। इसका प्रणयन कुशल करों द्वारा हुआ है। पहले इसमें संपत्ति, उदारता और प्रारब्ध संबंधी संग्रह है, फिर विषाद, प्रणय, राजसेवादि संबंधी। इस प्रकार के सुभाषित संग्रहों में शार्ङ्गधर द्वारा प्रस्तुत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' प्रचुर प्रसिद्ध है। शार्ङ्गधर दामोदर का पुत्र था और उसने यह संग्रह १३६३ ईस्वी में सम्पादित किया था। इस बृहद्ग्रन्थ में १६३ प्रकरण और ४६८६ श्लोक हैं। इनमें कुछ रचनाएँ स्वयं संग्रहकर्ता की भी है। पन्द्रहवीं सदी के वल्लभदेव ने 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के ही आधार पर १०१ अध्यायों में लगभग ३५० कवियों की ३५२७ रचनाओं का 'सुभाषितावलि' नामक एक संग्रह प्रस्तुत किया। इसमें भी संग्रहकर्ता ने अपने नाम से कुछ रचनाएँ दी हैं, परन्तु यह फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे सचमुच उसी की हैं अथवा किसी और की उद्धृत की गई हैं। उसी शताब्दी में जोनराज के शिष्य श्रीवर ने भी एक 'सुभाषितावली' संगृहीत की। इसमें ३८० से अधिक कवि-कृतियों का संग्रह है। इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी अनेक कवियों द्वारा विरचित कृष्ण-संबंधी श्लोकों का अपनी 'पद्यावली' में संग्रह किया। इनके अतिरिक्त और भी कई सुभाषित-संग्रह आज उपलब्ध हैं।

३. धार्मिक

इन्हीं दिनों देवी-देवताओं की आराधना-स्तुति में अनेक

स्तोत्र भी रचे गए, जिनमें अनेक स्थलों पर सुन्दर, प्रायः सरल और सुरुचिपूर्ण कविता मिल जाती है। इस काल तक हिन्दुओं का देव-समूह बहुसंख्यक हो गया था और उनके गुणगान करनेवालों की भी संख्या परिमित न थी। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा, चण्डी आदि पर अनेक स्तोत्र आज उपलब्ध हैं। बाण का 'चण्डीशतक' इन्हीं प्राचीन स्तोत्रों में से एक है। इसमें १०२ श्लोक हैं। ये अधिकतर स्रग्धरा छन्द में रचित हैं। महिषासुरमर्दिनी चण्डी की स्तुति में रचे ये श्लोक बाण की कविशक्ति का दर्शन कराते हैं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुवेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषम्पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितम्भूरिभावा भवानी।

बाण की कविता से भी कहीं सुन्दर उसके संबंधी मयूर की कविता है। उसका 'सूर्यशतक' निस्सन्देह उच्चकोटि का है। मयूर की कुछ रचनाएँ सुभाषितों में भी मिल जाती हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किम्प्रवर्तयस्येवम्।
देव्यै यदि रुचितमिद नन्दिन्नाहूयतां राहुः॥
आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिबतः प्रस्नुतम्मातुरूधः
किंचित्कुब्चैकजानोरनवरतचलच्चारु पुच्छस्य धेनुः।
उत्तीर्णं तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुंकारमुद्रा
विस्रंसिक्षीरधारालवशबलमुखस्याङ्गमातृप्ति लेढि।

मयूर की काव्यशैली गौड़ी है। अनुप्रास और यमकों के प्रयोग में वह सिद्धहस्त है। उसमें उपमाएँ और अतिशयोक्तियाँ काफ़ी हैं। व्यतिरेक, विरोध, दीपक और तुल्ययोगिता भी उसमें काफ़ी देखने को मिलते हैं।

राजशेखर के अनुसार हर्ष की राजसभा में बाण और मयूर के अतिरिक्त मातंग-दिवाकर नामक कवि भी था, जिसे 'चाण्डाल' भी कहते थे। किस प्रकार उसका ऐसा नाम पड़ा, यह कहना कठिन है। उसकी रचना का एक नमूना यह श्लोक है—

आसीन्नाथ पितामही तव मही माता ततोऽनन्तरं
सम्प्रत्येव हि साम्बुराशिरशना जाया जयोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समस्तशास्त्रविदुषां लोकेश्वराणामिदम्॥

कुछ विद्वानों ने मातंग-दिवाकर को जैन ग्रन्थकार मानतुङ्ग माना है। मानतुङ्ग 'भक्तामरस्तोत्र' का रचयिता था। कहते हैं कि उसने सूर्य के प्रति इतना सुन्दर स्तोत्र लिखा कि वह कुष्ट रोग से मुक्त हो गया। तब ईर्ष्या के वशीभूत होकर बाण ने अपने हाथ और पाँव काट डाले और फिर 'चण्डीशतक' लिखकर उसने यह प्रदर्शित किया कि उसकी इष्टदेवी में सूर्य से अधिक सामर्थ्य है, क्योंकि जहाँ सूर्य केवल कुष्ठ अच्छा कर सकता है, वहाँ चण्डी कटे हाथ-पाँव फिर से दे सकती है! इस पर मानतुङ्ग जिनों की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अपने को ४२ शृंखलाओं से बँधवाकर एक घर में पड़ गया। फिर उसने अपनी कविता पढ़ी। पढ़ने के साथ ही वह छूटकर निकल आया। इस किंवदन्ती पर विचार करना निरर्थक है। इससे इतना ही जान पड़ता है कि बाण और मानतुंग समकालीन हैं, यद्यपि कुछ प्रामाणिक सामग्रियाँ इस बात के लिए उपलब्ध हैं, जिनके बल पर मानतुंग डेढ़-दो सौ वर्ष बाद भी रखा जा सकता है।

मानतुङ्ग काव्यशैली का आचार्य है। उसकी कृति की नक़ल भी की गई है। सिद्धसेन दिवाकर नामक एक अन्य जैन पण्डित ने उसकी रचना के आधार पर ४२ श्लोकों का अपना 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' लिखा। जैनों के अन्य स्तोत्र भी हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे नितान्त नगण्य हैं। अपने समकालीन कवियों के साथ-ही-साथ स्वयं हर्षवर्धन ने भी शायद नाटकों के अतिरिक्त कुछ फुटकर कविता लिखी थी। उसके द्वारा कुछ बौद्ध सूक्तों का लिखा जाना तो प्रायः सिद्ध हो चुका है। कहा जाता है कि उसी ने 'अष्टामहाश्रीचैत्य स्तोत्र' और 'सुप्रभात स्तोत्र' लिखा। परन्तु ये दोनों ही नैषधीयकार श्रीहर्ष के भी रचित कहे जाते हैं। पश्चात्कालीन बौद्ध संप्रदाय की इष्टदेवी तारा की आराधना में बाद के सर्वज्ञमित्र नामक एक बौद्ध कवि ने अपना 'स्रग्धरा स्तोत्र' लिखा। सर्वज्ञमित्र के विषय में यह अनुश्रुति है कि पहले वह धनवान् था, परन्तु प्रव्रज्या लेकर दरिद्र हो गया। राह में उसे एक ब्राह्मण मिला और उसने अपनी कन्या के विवाहार्थ उससे कुछ द्रव्य माँगा। परन्तु वह उसे कुछ दे न सका। तभी उसने सुना कि एक राजा को नरयज्ञ के लिए सौ मनुष्यों की आवश्यकता है। उसने अपने को भी अन्य अभागों के साथ बलि के अर्थ अर्पण कर दिया! परन्तु उनके विलाप से वह इतना दुःखी हुआ कि उसने तारा के लिए एक स्तोत्र ही रच डाला। प्रसन्न होकर तारा ने सबके प्राण बचा दिए।

स्तोत्र तो और भी कई हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे कृपण और अशक्त हैं। हाँ, काश्मीरी कवि रत्नाकर ने अपनी 'वक्रोक्ति पञ्चाशिका' के ५० श्लोकों में काव्य की अद्भुत क्षमता दिखाई है।

दार्शनिक शङ्कर (शंकराचार्य) ने स्तोत्रों के रूप में अत्यन्त सरस कविता की है। धार्मिक धारा में बह जाने पर भी उनकी रचना में काव्यमाधुर्य का विशद प्रवाह है। अपने 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र' में शङ्कर कहते हैं—

'आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं यातिक्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
यस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना॥

सुन्दर वैदर्भी शैली में प्रसाद गुण सहित बड़ी स्वाभाविकता से इन पंक्तियों में काल की शक्ति को व्यक्त किया गया है। इसी क्षमता से 'द्वादशपञ्जरिकास्तोत्र' में जीवन की क्षणभंगुरता पर शङ्कर का वक्तव्य है—

मा कुरु जनधनयौवनगर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वम्।
मायामयमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा॥

इसी प्रकार 'देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र' में शङ्कर की भक्ति और विश्वास-श्रद्धा चरम सीमा पर पहुँच गए हैं—

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्याच्युतिरभूत्।
तदेतत्क्षान्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

इसी ध्वनि और श्रृंखला में निचला श्लोक भी है—

पृथिव्यामपुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषाम्मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

इनके अतिरिक्त शङ्कर के नाम पर अनेक अन्य स्तोत्र भी उपलब्ध हैं। उनमें से आठ श्लोकों का 'भवान्यष्टक' और बीस शिखरिणी छन्दों में 'आनन्दलहरी' पर्याप्त-रूपेण प्रसिद्ध हैं।

अज्ञातनामा कवियों द्वारा दुर्गा की आराधना में रचित 'अम्बाष्टक' और 'पञ्चस्तवी' नाम के दो और स्तोत्र हैं। कालिदास के नाम से भी कितने ही स्तोत्र विख्यात हैं। 'श्यामलादण्डक', 'सरस्वतीस्तोत्र' और 'मङ्गलाष्टक' इन्हीं में से तीन हैं। इनको पढ़ते ही पता चल जाता है कि ये रघुवंशकार कालिदास के नहीं हो सकते। यदि ये किसी कालिदास के ही हैं तो निस्सन्देह इनका रचयिता कालिदास उससे भिन्न है।

मूक नाम का भी एक कवि हो गया है, जो शङ्कर का समकालीन बताया जाता है। उसकी और शङ्कर की समसामयिकता में काफ़ी सन्देह है। मूक के नाम पर ५०० श्लोकों की 'पञ्चस्तवी' नाम की एक रचना उपलब्ध है। अलङ्कारशास्त्र के महान् पण्डित आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) ने भी 'देवीशतक' में पर्याप्त अलंकृत काव्य लिखा है। इसमें १०० श्लोक हैं। परन्तु वास्तव में आनन्दवर्धन को सुकवि नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शिव की आराधना में लगभग ९२५ ईस्वी में बीस स्तोत्रों में लिखी उत्पलदेव की 'स्तोत्रावली' भी कोई उत्तम काव्यरचना नहीं है। दसवीं शती में ही वैष्णव कुलशेखर ने विष्णु की प्रशस्ति में अपनी 'मुकुन्दमाला' लिखी। 'मुकुन्दमाला' का एक श्लोक पागान के दूरवर्त्ती देश में तेरहवीं सदी के एक लेख में खुदा मिला है। कुलशेखर से पूर्व ग्यारहवीं सदी में ही लीलाशुक अथवा बिल्वमङ्गल ने कृष्ण की स्तुति में ११० श्लोकों में अपना 'कृष्णकर्णामृत' अथवा 'कृष्णलीलामृत' रचा। बारहवीं सदी के लक्ष्मणसेन और जयदेव के समकालीन कवियों ने भी धर्मपरक काव्य लिखे। चैतन्य के अनुयायी और परम वैष्णव रूपगोस्वामी की 'पद्यावली' का उल्लेख पहले हो चुका है। शायद स्वयं लक्ष्मणसेन ने भी इसी ढंग की कविता की थी।

जयदेव ने अपने समकालीन कवि उमापतिधर और शरण की काफ़ी प्रशंसा की है। शरण आशुकवि था। उसकी रचना शीघ्रकृत होती थी। जयदेव ने उसे 'दुरूहद्रुत' कहा है। लक्ष्मणसेन के ही रत्नों में से एक धोयी नामक कवि भी था। वह 'कविराज' कहलाता था और उसके अन्य कवि नाम 'श्रुतधर' अथवा 'श्रुतिधर' थे।

शिव और सूर्य की प्रशस्ति में 'महिम्नःस्तव' नाम की रचना कवि पुष्पदन्त ने की है। इस रचना का उल्लेख जयन्त भट्ट ने अपनी 'न्यायमञ्जरी' में किया है। अतः यह कवि नवीं सदी के बाद का नहीं हो सकता। एक धर्मपरक रचना ५० श्लोकों में 'चण्डीकुचपञ्चाशिका' नाम की है। इसका रचयिता लक्ष्मण आचार्य नामक व्यक्ति था। शिवदास अथवा उत्प्रेक्षावल्लभ नामक एक अन्य कवि ने 'भिक्षाटन काव्य' लिखा, जिसमें इन्द्रलोक में यती के वेश में भिक्षा माँगते शिव के रूप का अप्सराओं के ऊपर प्रभाव वर्णित है। संभवतः उत्प्रेक्षावल्लभ शिवदास का काव्य-नाम था। सुभाषितों में भी कुछ धर्मपरक रचनाएँ मिल जाती हैं। भट्टाशुनन्दन और गंगादत्त नामक दो और कवियों का निर्देश सुभाषितों में हुआ है। श्री बालकृष्ण के प्रति कहा हुआ नीचे का सुन्दर सुमधुर श्लोक किसी अज्ञातनामा कवि का है—

करारविन्देन पदारविन्दम्मुखारविन्दे निवेशयन्तम्।
अश्वत्थपत्रस्य पुटे शयानं बालम्मुकुन्दं सततं स्मरामि ॥

इन सुभाषित कवियों में एक विक्रमादित्य का भी उल्लेख है, पर वह कौन है यह कहना कठिन है। उसके नाम पर सुभाषितों में अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जो सब एक कवि द्वारा निर्मित्त नहीं प्रतीत होतीं। वे अधिकतर धर्मपरक ही हैं।

४. नीतिपरक

नीतिपरक रचनाओं की संस्कृत में प्रचुरता है। अनेक नीतिग्रन्थ, राजनीति अथवा साधारण आचार-नीति से संबंध रखनेवाले उसमें रचे गए। आज भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनका उद्देश्य राजा को आदर्श नीति सिखाना अथवा व्यक्ति को उचितानुचित का बोध कराना है। पहले इनमें उल्लिखित श्लोकों का लौकिक और मौखिक प्रचार रहा होगा और बाद में उन्हें संग्रहों के रूप में एकत्र कर लिया गया होगा। इनमें से अनेकों की संज्ञा में चाणक्य की ध्वनि मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्य का कूट-नीतिविशारद मन्त्री कौटिल्य राजनीति का अनुपम आचार्य माना जाता था। उसके विष्णुगुप्त, चाणक्यादि अनेक नाम मिलते हैं। इससे अपनी कृतियों को प्राचीनता और गौरव प्रदान करने के लिए लोगों ने अपनी-अपनी रचनाएँ चाणक्य के मत्थे ही मढ़ दीं, और फलतः आज चाणक्य के नाम पर अनेक नीतिग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ ये हैं—'चाणक्यनीति,' 'चाणक्यराजनीति' 'वृद्ध-चाणक्य,' 'लघुचाणक्य'। 'राजनीतिसमुच्चय' भी इसी प्रकार का एक नीतिपरक ग्रन्थ है। इस प्रकार के एक दूसरे ग्रन्थ में सत्रह अध्यायों में ३४० श्लोक संगृहीत हैं। हस्तलिपियों में प्राप्त एक संग्रह भोजराज का मिलता है। यह शारदा लिपि, आठ अध्यायों, और ५७६ श्लोकों में प्रस्तुत है और अन्य नीतिपरक काव्यों की भाँति ही इसमें भी धन, दारिद्र्य, प्रारब्ध, उद्योगादि पर नीति कही गई है। इस प्रकार के नीति-श्लोकों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी ॥
सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तप्यते रवि।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत्कन्या प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

एतदर्थम्कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न त्यजंति च ते नृपम् ॥

निम्नलिखित श्लोक में कुराज्य, कुमित्र, कुदारा, और कुशिष्य की उपस्थिति में मानवविडम्बना दर्शित है—

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं कुमित्रमित्रेण कुतोऽस्ति निर्वृतिः।
कुदारदारे च कुतोगृहे रतिः कुशिष्यमध्यापयतः कुतोयशः ॥

सुपुत्र की प्रशंसा में एक श्लोक इस प्रकार है—

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥

इस श्लोक में शब्दों का आद्यन्तक उहापोह सुन्दर है—

सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां न चखलसंगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवम्मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न च कुसुमानि धारयन्ति ॥

अत्यन्त सरलता अवांछनीय है और अपमान का जीवन घृणित है, ये प्रसंग निचले श्लोकों में दिग्दर्शित हैं—

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥
वरं प्राणपरित्यागो न मानपरिखण्डनम्।
प्राणत्यागः क्षणं चैव मानभङ्गो दिने दिने ॥

एक श्लोक में भवितव्यता की शक्ति का उद्घोष है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायस्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥

भाग्य की विधि के विधान का अमिट फल दर्शित करने में नीचे का श्लोक अत्यन्त समर्थ है। यह भोजराज के संग्रह का नहीं 'पञ्चतन्त्र' का है—

शशि दिवाकरयोर्ग्रहपीड़नं
गजभुजङ्गमयोरपिबन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

भोजराज के संग्रह के अतिरिक्त वररुचि, घटकर्पर, और वेतालभट्ट के भी नीति-संग्रह प्रचलित हैं। इनके नाम हैं 'नीतिरत्न', 'नीतिसार', और 'नीतिप्रदीप'। इनमें कुछ श्लोक तो निस्सन्देह बड़े सुन्दर हैं। परन्तु इन रचनाओं का काल अज्ञात है। भर्तृहरि का 'नीतिशतक' इन नीति ग्रन्थों में सर्वोत्तम है। उसका हवाला पहले दिया ही जा चुका है। काश्मीरराज शङ्करवर्मा के राज्यकाल (८८३-९०२ ई०) में भल्लट नाम का एक कवि हुआ। राजा अत्यन्त लोभी था और कवियों को परितुष्ट नहीं करता था। भल्लट ने अपना जीवन ग़रीबी में बिताया। राजा ने उसे कुछ नहीं दिया।

भल्लट ने भी सरल शैली में एक शतक लिखा है। एक श्लोक का उदाहरण यह है—

ये जात्या लघवः सदैव गणनां याता न ये कुत्रचित्
पद्भ्यामेव विमर्दिताः प्रतिदिनं भूमौ निलीनाश्चिरम्।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षे सखे
तुङ्गानामुपरिस्थितं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः॥

काश्मीरी कवि शिल्हण ने भी इस प्रकार की रचनाएँ रची हैं। उसकी रचनाएँ मौलिक नहीं हैं और प्रायः उनमें अन्य प्राचीन कवियों की ध्वनि सुन पड़ती है। उसने अधिकतर भर्तृहरि और कहीं-कहीं हर्ष के 'नागानन्द' को आधार बनाया है। उसने विशेषकर सन्यस्त जीवन पर लिखा है और उसमें हिन्दू, बौद्ध, और जैन तीनों धर्मों की छाया मिलती है। उसका काल निश्चित नहीं है, परन्तु उसे १२०५ ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा, क्योंकि उस वर्ष में रचित 'सदुक्तिकर्णामृत' में उसका हवाला मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् पिशेल ने शिल्हण और बिल्हण को एक ही व्यक्ति माना है, परन्तु उनके इस निश्चय का कोई प्रमाण नहीं है। शिल्हण ने संभवतः बंगाल में अपनी रचना की थी।

उपरोक्त कृतियों के अतिरिक्त इस वर्ग के अंतर्गत शम्भु नामक कवि का 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक', कुसुमदेव का 'दृष्टान्तशतक', भाव नामक कवि का 'भावशतक', गुमानि का 'उपदेशशतक' आदि अन्य अनेक रचनाएँ मिलती हैं, पर स्थानाभाववश उनका सविस्तर विवरण यहाँ देने में हम असमर्थ हैं। इन नीतिपरक काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक अध्यात्मपरक काव्य-ग्रन्थों की भी बहुलता संस्कृत के पश्चात्कालीन वाङ्मय में है, जिनमें शान्तिदेव का 'बोधिचर्यावतार', शंकर की 'शतश्लोकी,' 'मोहमुद्गर', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

५. प्राकृत गेय काव्य

यद्यपि प्राकृत काव्य हमारे अध्ययन के बाहर है, तथापि यहाँ उसके प्रति भी संकेत कर देना उपादेय होगा। संस्कृत गेय काव्य के विकास के समानान्तर ही एक वैसी ही धारा प्राकृत गेय काव्य की भी बह चली थी, जो बाद में अपभ्रंश में लुप्त हो गई। विदेशी विद्वानों ने इसका कारण आभीरों, गुर्जरों और हूणों आदि का भारत में प्रवेश बताया है। इस सिद्धान्त को मानना ज़रा कठिन है। भाषा का विकास अनिवार्य है जब तक कि उसको संस्कृत की भाँति व्याकरण के कड़े नियमों से जकड़ न दिया जाय। वैदिक भाषा वही नहीं थी, जो उपनिषदों और विशेषकर काव्यों के उत्तरकाल में हो गई। आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के वर्तमान रूप और अतीत के विकास का कारण जीवित भाषा की अप्रतिहत गति का स्वाभाविक धर्म ही है। हाँ, विदेशियों का प्रभाव भी उसमें एक प्रतिशत माना जा सकता है।

सातवाहन राजा हाल की कृति—'सत्तसई'—प्रथम शती ईस्वी में ही प्रस्तुत हो गई थी। भारतीय 'सतसइयों', 'सप्तशतियों' और 'शतकों' की पूर्ववर्ती यही है। जयदेव के समकालीन गोवर्धन ने इसी को अपनी 'सप्तशती' का आदर्श बनाया था। राज हाल के काल को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस आंध्र-सातवाहन कुल का वह राजा था, उस कुल के तिथिक्रम में ही अभी नितान्त भ्रम है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हाल को लगभग प्रथम शती ईस्वी में रखा जा सकता है। सातवाहन-कुल का राज्य-काल प्रायः २४० ई० पूर्व से लेकर लगभग २२५ ईस्वी तक है और हाल इस वंश के बीच में आता है। जिन विद्वानों ने उसकी प्राकृत शैली और भाषा के विकास के आधार पर तीसरी और पाँचवी सदी ईस्वी के बीच उसे रखा है, वे संभवतः भ्रम में हैं, क्योंकि यद्यपि भाषा विकास के नियमों से बदलती रहती है, पर इस परिवर्तन की गति इतनी शीघ्र नहीं होती। सौ वर्षों में भाषा नहीं बदला करती, चाहे वह नितान्त लोकप्रिय क्यों न हो। इतना और है कि हाल की इस 'सत्तसई' में प्रक्षिप्त श्लोकों की भी कमी नहीं है। 'सत्तसई' प्रेमपरक है और अत्यन्त सरस तथा सजीव काव्य है। प्रेम का इसमें अत्यन्त सुकुमार वर्णन है। इसमें प्रकृति का भी अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन है। ऋतु, वृक्ष, लता, बन, ग्रामादि पर अत्यन्त रोचक काव्य इस प्राकृत-कवि ने प्रस्तुत किया है। दृश्य अत्यन्त स्वाभाविक और उनका चित्रण पूरा सजीव है। कृत्रिमता उसमें देखने को भी नहीं मिलती। नर-नारी का इसमें सच्चा जीवन-सम्बन्धी अंकन है।

इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'वज्जालग्ग' नामक एक और संग्रह प्राप्य है। इसका रचयिता श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ था। जयवल्लभ का काल अज्ञात है। उसने अपने संग्रह को मानव आचार, व्यवहार और प्रेम तीनों के दृष्टिकोण से संपादित किया है। हाल की रचना की भाँति ही उसकी कृति भी महाराष्ट्री प्राकृत में है और उस पर अपभ्रंश का भी कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह आर्या छन्द में प्रस्तुत किया गया है।

अमेरिका के आदिम निवासी—(२)

अल्गोन क्विश्रान लोगों में, जो उत्तर-पूर्व के भूभागों में रहने लगे थे, पशुओं का शिकार, मछली मारना और बीज इकट्ठा करना, जीवन-निर्वाह का प्रमुख उद्यम गिना जाता था। ऐसे प्रदेश में, जहाँ आज दिन भी शिकार की अपेक्षाकृत अधिकता पाई जाती है, श्वेत जातियों के आग्नेय शस्त्रोंसहित आगमन से पूर्व शिकार की कितनी प्रचुरता रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। हरिण, बारहसिंगे तथा अन्य पशुओं का वहाँ बाहुल्य था। हंस, बत्तख और सारसों की गणना करना असंभव था और न-जाने कितने प्रकार के पक्षी वहाँ अधिक से अधिक संख्या में पाए जाते थे। फिर भी रेड इंडियन को वर्ष के सभी दिनों में पर्याप्त आहार नहीं प्राप्त होता था और वह सदैव कठिनाइयाँ झेलता रहता था। धनुष-बाण ही उसका मुख्य हथियार था। गर्मियों में पत्थर के फलवाले बाणों से घात लगाकर बड़े जानवरों का शिकार करना उसके लिए एक दुस्तर कार्य होता था। अवसर मिलने पर, बारहसिंगे और हरिण आदि जंगली पशु जलाशयों में खदेड़ दिए जाते थे, जहाँ से नौकाओं में बैठकर उनका शिकार करना सरल होता था। जाड़ों में, बर्फ़ पर चलने के जूते पहनकर, शिकारी लोग भारी पशुओं को हाँककर मार लेते थे। इनके अतिरिक्त खरगोश आदि छोटे-छोटे जानवरों का भी शिकार करना उस ऋतु में सहज हो जाता था। नदियों और झीलोंवाले भूभागों के निवासी लोगों के लिए मछली मारना अत्यन्त आवश्यक होता था। जलस्रोतों में पुश्ते बाँधकर और जाल लगाकर ढेर-की-ढेर मछलियाँ पकड़ी जाती थीं। विशेषतया जब 'सालमन' मछलियाँ समुद्र-तटवर्त्ती नदियों में बह आती थीं और जब वसंत ऋतु में 'स्टर्जियन' मछलियाँ झीलों से निकलकर सरिताओं में आ जाती थीं, शिकार की ये युक्तियाँ अधिक सफल होती थीं। बर्छों, धनुष-बाणों और काँटों से भी मछलियों का शिकार किया जाता था। शीतकाल में, मछली का शिकार करते समय बर्फ़ में छेद करके उस पर छाया कर दी जाती थी। तब शिकारी छेद के ऊपर खाने की कोई वस्तु रखकर पास ही बर्छा हाथ में लिये, ताक लगाये, छिपा बैठा रहता था और मछली के ऊपर मुँह निकालते ही उसे तत्काल मार लेता था। ग्रीष्म ऋतु में बर्छे से मछली मारने की एक और नई युक्ति भी काम में लाई जाती थी। रात के समय, दो आदमी एक नाव में बैठकर किसी जलाशय में निकल जाते थे। नाव के एक सिरे पर छाल की बनी हुई मशाल जलाकर बाँध दी जाती थी। एक आदमी डाँड़ों के सहारे नाव खेता रहता था और दूसरा मशाल का प्रकाश देखकर नौका के निकट आनेवाली मछलियों का बर्छे से शिकार करता रहता था!

शिकार करने, मछली मारने और अस्त्र-शस्त्र चलाने में जो व्यक्ति जितना ही निपुण और सिद्धहस्त होता था, उतना ही उच्च स्थान वह अपनी जाति में प्राप्त कर लेता था। इन्डियन जातियों और श्वेतांगों में भूमि के स्वामित्व-सम्बन्धी विरोधी धारणाओं के फलस्वरूप ऐसी तनातनी सी उत्पन्न हो गई, जिसके कारण उनमें पारस्परिक नासमझी फैलने के पश्चात् भयंकर रक्तपात की नौबत कितनी ही बार आई और जिसका शोचनीय परिणाम पराजित इन्डियन लोगों को ही भोगना पड़ा। अमेरिका में जातीय सीमाओं के अन्तर्गत भूमि जाति विशेष की सम्पत्ति मानी जाती थी। किसी इन्डियन जाति के व्यक्ति या परिवार विशेष को भूमि-संबंधी अधिकार प्राप्त नहीं थे, यद्यपि प्रत्येक परिवार को उसकी अपनी आवश्यकताओं व भरण-पोषण के हेतु खेती-बारी के प्रयोजनार्थ पर्याप्त भूमि मिला करती थी। इस प्रकार किसी सरदार, कुटुम्ब या जातीय वर्ग के लिए समस्त जाति की उस भूमि को या उसका अंशमात्र बेचना या किसी दूसरे को दे देना नियमानुसार असम्भव था। स्वभावतः कोई भी वसीयतें या दानपत्र प्राचीन इन्डियन लोगों की दृष्टि में कुछ भी महत्व नहीं रखते थे। प्रारम्भ में श्वेत जातियों के जो प्रतिनिधि वहाँ आकर बसे, वे या तो इन नियमों से परि-

चित न थे अथवा जान-बूझकर उन्होंने उन नियमों की अवहेलना की।

अपने परम्परागत जातीय नियमों के कट्टर पक्षपाती इंडियनों में भूमि के व्यक्तिगत सौदे का अर्थ श्वेतांगों द्वारा उस भूमि के उपयोग से सदा के लिए वञ्चित किया जाना ही समझा जाता था। किसी इंडियन का कहना था कि—"पृथ्वी हमारी माता है, उसके शरीर को हल और कुदाल से स्पर्श न करना चाहिए। मनुष्यों को प्रकृति-प्रदत्त आहार से ही अपना भरण-पोषण करना चाहिए। भूमि का स्वत्वाधिकार न तो बेचा जा सकता है और न किसी को दिया ही जा सकता है। हम लोगों ने कभी अपनी भूमि नहीं बेची। हमारी जाति के लोगों ने अपनी भूमि दे डाली है, किन्तु मैंने नहीं दी। मेरी भूमि मेरे शरीर का ही एक अंग है और मैं उसे दूसरों को कदापि नहीं दे सकता। जब तक भूमि मुझे प्राप्त रहेगी तब तक मैं अकेला रहकर भी सुखी रहूँगा।" ये उद्गार नेज़पर्से जाति के एक सदस्य—तूहुल्हुल सेते—के मुख से उस समय प्रकट हुए जब श्वेत जातियाँ उन लोगों को वालोवा-घाटी की जातीय आवास-भूमि से बलात् खदेड़ देने की चेष्टा कर रही थीं।

पूर्वी अमेरिका की इंडियन जातियों के गाँवों और बस्तियों में जनता का ही शासन चलता था। राजा, रानी, युवराज, अधिकारी आदि के नाम भी वे लोग न जानते थे। ऐसी दशा में श्वेत जातियों द्वारा उन नामों की परिभाषाएँ सुनकर उन्हें स्वभावतः उनसे घृणा ही होती थी; किसी नियमित प्रबन्धकर्त्ता या सरदार के पद की कल्पना भी उनको सर्वथा विदेशी और अग्राह्य प्रतीत होती थी। यद्यपि योरोपीय जातियों से व्यापार करने पर ऐसे 'सरदार' के होने में सुगमता प्राप्त करके उन्होंने उसकी उपयोगिता अनुभव की, पर पैतृक पदवी का विचार ही उनको अनोखा लगता था। अनेक जातियों में 'नेता' कहलानेवाला व्यक्ति केवल अपनी व्यक्तिगत वीरता और योग्यता के कारण ही श्रेष्ठ माना जाता था, किन्तु उस नेता को वास्तव में कोई विशेष अधिकार प्राप्त न थे। उसका शासन केवल परम्परागत नियमों के अनुकूल जातिवालों को सलाह देने तक ही सीमित रहता था। कुछ वर्गों में, जैसे इरोक्वोई और प्यूएब्लो जातियों में, किसी वंश विशेष के व्यक्तियों में से ही जातीय 'नेता' चुनने का नियम था और यह चुनाव सामूहिक रूप से जाति के समस्त सदस्यों
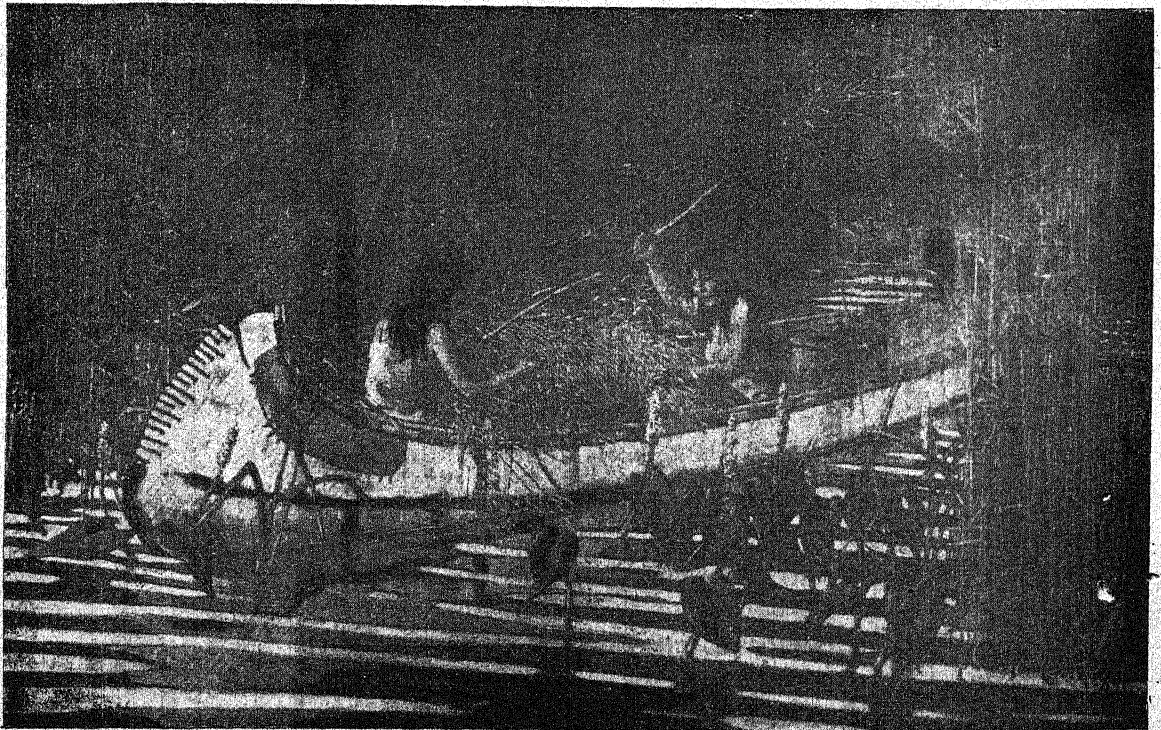
चिपेवा जाति के रेड इंडियनों की स्त्रियाँ दलदलों में उत्पन्न होनेवाले एक प्रकार के प्राकृतिक धान की फ़सल इसी प्रकार नौकाओं में बैठकर काटा करती थीं!

की उपस्थिति और स्वीकृति से ही हुआ करता था। निरंकुश शासन-व्यवस्था का एकमात्र उदाहरण मिस्सीसिपी के निचले प्रदेश के आसपास बसी हुई जातियों और नात्केज़ लोगों में मिलता था, किन्तु उनमें भी प्रत्यक्षतया नेता की आज्ञा का पालन लोग स्वेच्छा से ही करते थे, जिसका आधार धर्म माना जाता था। वर्ण-भेद और व्यक्तिगत सम्पदा के विषय में इंडियन लोग साधारणतया कुछ भी न जानते थे। अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट के निवासियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति-अधिकारों के आधार पर और नात्केज़ लोगों में पैतृक अधिकार-प्रणाली पर कुछ अंशों में एक प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ। अमेरिका की इंडियन जातियों में सर्वप्रथम इरोक़ुओई जातिवालों द्वारा एक प्रतिनिधि-सत्ता की स्थापना हुई, जो बड़े महत्व का कार्य्य समझा गया। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि इरोक़ुओई लोगों की इस शासन संस्था का प्रभाव अमेरिका में श्वेत जातियों द्वारा स्थापित जनतंत्र शासन-पद्धति पर विशेष रूप से पड़ा।

विदेशों से आनेवाली श्वेत जातियों के साथ अमेरिका की आदिम जातियों का संधि-विग्रह का खेल शताब्दियों तक अनवरत चलता रहा और इसी अवधि में उन आदिम जातियों के बड़े-बड़े महान् शूरवीरों, देशभक्तों और विद्वानों के नाम प्रकाश में आए, जिनके कार्यकलापों का इतिहास यदि लिखा जाय तो एक बहुत बड़े ग्रंथ की रचना हो सकती है।

इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश इंडियन जातियाँ युद्ध-प्रिय थीं और श्वेतांगों से मुठभेड़ होने के पूर्व वे ज़मीन, पशुओं और स्त्रियों के लिए आपस में लड़ा करती थीं। उनके लड़ने का ढंग योरोपीय जातियों के सामूहिक रण-कौशल से सर्वथा भिन्न होता था। इंडियन युद्ध-प्रणाली के अनुसार सैनिकों को शत्रु के चारों ओर फैलाकर, छिपकर अचानक आक्रमण करने और धोखा देकर लड़ने का ढंग सर्वोचित समझा जाता था। उपनिवेशक गोरों ने भी जब तक इस युद्ध-प्रणाली का स्वयं अनुकरण आरम्भ नहीं किया तब तक वे इंडियनों को जीत न सके। पूर्वी वन्य प्रदेशों में युद्ध सम्बन्धी दो विशेष रिवाज प्रचलित थे। एक था युद्ध-बंदियों को शारीरिक पीड़ा पहुँचाना और दूसरा था शत्रु के सिर के पृष्ठभाग का केशसहित चर्म उतार लेना! अनुमानतः ये दोनों रिवाज आदि काल से इरोक़ुओई जाति में प्रचलित थे और उन्हीं के द्वारा श्वेत जा-

अधिकांश रेड इंडियनों में जुएँ का इतना अधिक प्रचार था कि वे न केवल कंबल आदि क़ीमती वस्त्र ही बल्कि अपनी स्त्रियों तक को बाज़ी पर लगा देते थे।

तियों के आगमन के पश्चात्, अन्य देशी जातियों में फैल गए। सिर का चमड़ा उतारने की प्रकृति को उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली योरोपीय जातियों ने अधिक प्रोत्साहन दिया, क्योंकि उनके द्वारा मित्र-इंडियन जातियों को शत्रुओं के सिर का चर्म, चाहे वे देशी हों या विदेशी, उतार लाने पर पुरस्कार और उपहार देने की घोषणाएँ कर दी जाती थीं! पश्चिम के भूभागों में तो अभी १९वीं शताब्दी के मध्यकाल तक विरोधी इंडियन लोगों के सिर के चर्म उतारनेवालों को प्रचुर पुरस्कार देने की घोषणाएँ बराबर होती रहती थीं।

रणशूर होने के अतिरिक्त शान्ति के भी व्यवसायों में रेड इंडियन बड़ा कुशल होता था। शिकार और मछली मारने के अतिरिक्त वह उच्चकोटि की कलाओं में भी निपुण हुआ करता था। वह एक प्रभावशाली वक्ता और नाट्यकार था। अनेक प्राप्त आलेखों से उसकी ओजभरी वक्तृत्व-कला और काव्यमय भाषा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उसकी कविता में सुन्दर कल्पना, प्रकृति की साधना और उसकी अपनी धार्मिक दार्शनिकता प्रतिबिम्बित होती है। संगीत और नृत्य-कलाएँ भी पर्याप्त रूप में इंडियनों में विकसित हो चुकी थीं, किन्तु वाद्य-संगीत तदनुरूप सीमा तक नहीं पहुँच पाया था। साधारणतया वंशी, ढोल और खड़खड़ाहट का शब्द करनेवाले झुनझुने आदि ही वाद्य-यंत्रों की जगह प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त इंडियन कलाकारों ने मूर्त्ति, वास्तु और चित्र-कलाओं में भी ऐसी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि उनकी कुछ कृतियाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। पेरू प्रदेश की ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर से जल का प्रवाह गिराकर उसे सिंचाई के लिए नियंत्रित करने की विचित्र प्रणाली, अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी प्रांतों में खोदी हुई नहरें और पेरू की पर्वतमालाओं तथा यूकेतान् के जंगलों से होकर निकाले गए लम्बे प्रशस्त जनमार्ग इंडियनों की मौलिक इंजीनियरिंग-कला के मौन साक्षी बने हुए हैं। इसी प्रकार तरह-तरह के कपड़ा बुनने, टोकरियाँ बनाने और बिना कुम्हार के चाक की सहायता लिए सुन्दर, कलापूर्ण, चित्र-विचित्र मिट्टी के बर्त्तन तैयार करने में भी इंडियन बड़ा कुशल होता था। यद्यपि उसने सूत कातने का चर्खा बना लिया था, किन्तु यांत्रिक आविष्कारों की सीमा तक उसकी प्रगति न हो सकी थी। विश्व को अमेरिकावासी इंडियन की सबसे बड़ी देन उसकी स्थानीय प्रागैतिहासिक-कालीन वैज्ञानिक कृषि-प्रणाली है। उन प्राचीन वनस्पति-विज्ञानवेत्ताओं द्वारा जिन पौधों की उन्नति की गई थी, उनमें मक्का, फली, आलू और शकरकन्द प्रधान गिने जाते हैं, और ये चारों ही संसार के प्रमुख खाद्यों में हैं। इंडियन ने ही पहलेपहल कुनैन, कोकेन, तम्बाकू और रबड़ का अनुसंधान किया था, जो आधुनिक युग की अत्यन्त उपयोगी वस्तुएँ मानी जाती हैं। मक्का या मकाई की खेती द्वारा इंडियन ने मानव-जाति को एक सस्ते आहार का परिचय कराया। अमेरिका महाद्वीप के एक बहुत बड़े भूभाग के निवासी जीविका के लिए इसी के आश्रित रहते थे। मेक्सिको से संयुक्त-राज्य अमेरिका के दक्षिणी भागों में प्रवेश करके यह कृषि-व्यवसाय गल्फ़-कोस्ट के चारों ओर उत्तर में मिस्सिसिपी नदी के आसपास और अटलांटिक तट के समानान्तर सेंटलारेंस नदी तक बराबर फैलता गया। पूर्वी वन्य प्रदेशों के रहनेवाले इंडियन लोग खेती-किसानी के काम में सीधे सादे किन्तु कारगर उपायों का आश्रय लेते थे। हलों के बजाय वे सख्त लकड़ी के बने फावड़े-जैसे औज़ार का उपयोग करते थे। मई के महीने में गाँव के निकट उपयुक्त भूमि खोजकर बाग़ लगाने की प्रथा उनमें थी। वृक्षों और लताओं को पास-ही-पास आरोपित किया जाता था। खेतों और बाग़ों की देखभाल तथा फ़सलों का काटना और फलों को तोड़कर लाना केवल परिवार की स्त्रियों का काम समझा जाता था, क्योंकि उन ऋतुओं में पुरुष अधिकतर शिकार खेलने में व्यस्त रहा करते थे।

अनाज का खाद्य के रूप में कई प्रकार से उपयोग होता था। हरी बालियाँ भूनकर या उबालकर अथवा बीजों को कूटकर पानी में घोलने के बाद शर्बत की तरह लोग खाते-पीते थे। सुखाने के पश्चात् अनाज धरती में खोदे हुए गढ़ों या बखारों में जमा करके रख लिया जाता था और अभाव के समय उसका उपयोग होता था। सूखे अनाज को लकड़ी की ओखली में कूटकर या पत्थर की छिछली रकाबी में पीसकर इंडियन लोग आटा बना लेते थे। भोजन बनाने के अनेक ढँग प्रचलित थे, किन्तु साधारणतया आटे की रोटियाँ या उबले अनाज का दलिया अधिक खाया जाता था। अनाज के चोकर और भूसे से चटाइयाँ, चेहरे, खिलौने और जूते तैयार किये जाते थे। पौधों के डंठल आग बनाने के काम में आते थे।

इंडियन लोग खेल-कूद में भी बड़ी दिलचस्पी लेते थे। दो प्रकार के खेलों का उनमें अधिक प्रचार था—एक तो वे जिनमें केवल दाँव ही लगता था, जैसे पाँसे आदि, और दूसरे वे जिनमें निपुणता और पटुता की आवश्यकता

होती थी। शारीरिक कौशल और सहन-शक्ति पर निर्भर खेलों का नई दुनिया के समस्त प्रदेशों में बड़ा प्रचलन था। पैदल दौड़ और कुश्तियाँ भी हुआ करती थीं, जिनमें सामूहिक रूप से देशी जातियाँ हिस्सा लेती थीं। संयुक्त-राज्य के पूर्वी प्रदेशों के अधिकांश भागों में "लैक्रासे" का खेल बहुत लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था, जिसे श्वेत जातियों ने भी अपना लिया है। सभी खेलों में दाँव लगाने और बाज़ी बदने का लोगों में चलन था। प्रायः बड़े लम्बे दाँव लगा करते थे और लोग अपनी सारी जायदाद व मालमता पाँसे के खेलों व कुश्तियों में दाँव पर रख दिया करते थे। सब कुछ हार जाने पर जुआड़ी अपनी स्त्रियों तथा स्वयं अपने को भी दाँव पर लगा देते थे और हार होने पर उनको विजेता का दासत्व स्वीकार करना पड़ता था!

विदेशी यात्रियों ने अपने संस्मरणों में इंडियन स्त्रियों को पुरुषों की दासियाँ, पशु-तुल्य और दुर्भाग्यग्रसित बतलाया है। उनकी जीवनचर्या का चित्रण उनको कठिन शारीरिक श्रम से आक्रान्त, सन्तानोत्पत्ति के भार से दबी हुई तथा पतियों की प्रत्येक इच्छा का मूक पालन करती हुई बतलाकर किया गया है। आदिम युग में स्त्रियों का शासन घर और उसके आसपास तक ही सीमित था। वे खेत जोततीं, भोजन बनातीं और गृहस्थी के काम-धन्धे में जुटी रहती थीं। पुरुष शिकार में, मछली मारने में और युद्ध में व्यस्त रहा करते थे। अतः विदेशी यात्रियों ने प्रायः स्त्रियों को घर के आसपास अपने काम में दत्तचित्त लगा देखा और यदि वहाँ पुरुष भी हुए तो उनको आलस्य में चुपचाप ऊँघते पाया। स्त्रियों और पुरुषों में परम्परा से सारे काम नियमित ढंग से बँटे चले आते हैं, अतएव जब श्वेत जातियों ने आकर शिकार के योग्य पशुओं को नष्ट कर डाला, आखेट-वनों को घेरकर अपने अधिकार में कर लिया और आदिम निवासियों को दबाकर उनमें युद्ध की शक्ति का अन्त कर दिया, तब पारस्परिक कामों का विभाजन-क्रम एकदम अस्तव्यस्त हो गया। स्त्री का कार्य उतना ही रहा, परन्तु पुरुष निष्क्रिय बन गया अथवा विजेताओं के लिए परिश्रम करने को बाध्य हो गया।

पूर्वकाल में इंडियन स्त्रियाँ बड़ी मेहनत से घर का सारा कामकाज करती थीं। उनको अपनी कार्यक्षमता पर गर्व होता था। वे प्रसन्न रहतीं, पति-पुत्रों और स्वजनों से स्नेह-पूर्ण व्यवहार रखतीं, और अवकाश के समय अपनी हम-जोलियों और पड़ोसियों में बैठकर उसी प्रकार हँसी-दिल्लगी करती रहती थीं जिस प्रकार संसार की अन्य देशीय स्त्रियाँ आज भी करती हैं। मुख्यतः घर से बाहर के कामों में

पुराने ज़माने में रेड इंडियन लोग प्रायः इसी प्रकार के ख़ीमों या तंबुओं में रहा करते थे। इस इंडियन परिवार की वेशभूषा पर ध्यान दीजिए।

रेड इंडियनों द्वारा बड़े उत्साह के साथ खेला जानेवाला 'लैक्रासे' नामक खेल, जिसे वे एक प्रकार के जालीदार रैकेटों या बल्लों द्वारा खेलते थे। इसे संशोधित कर गोरों ने अपना लिया है।

वर-वधू पक्षों के परस्पर भेंट-उपहारों के स्वेच्छा से आदान-प्रदान तक सीमित थी। अथवा कहीं-कहीं वर-पक्ष को कुछ विशेष मूल्यवान् भेंट वधू-पक्षवालों को इस हेतु देनी पड़ती थी जिसमें कि उक्त पक्ष को अपने घर की कन्या की सेवाओं से वंचित होने की हानि की उस भेंट से आंशिक पूर्ति हो सके। अधिकांश इंडियन जातियों में वंश का विकास मातृ-पक्ष से ही पाया जाता है, जिसमें सब प्रकार के पैतृक अधिकारों का उपभोग स्त्रियों के माध्यम द्वारा ही करना सम्भव रहा करे। कुछ वर्गों में, जैसे इरोकुओई जाति में, जातिगत मामलों और मसलों में, स्त्रियों की आवाज़ भी सुनी जाती थी और वे समिति के अधिवेशनों में नियमित सदस्याओं के पद ग्रहण करती थीं!

नई दुनिया में, एक बार श्वेत जातियों के पैर जम जाने के

लगी रहने के कारण उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था। पत्नी पर पति का कोई वास्तविक शासन नहीं था और विभिन्न जातियों के रस्मोरिवाज अलग-अलग होते हुए भी नियमानुसार स्त्री अपने पति को जब चाहे तब स्वेच्छा से छोड़ सकती थी। विवाह में उभय पक्षों की सम्मति, उस युग में भी, उतनी ही आवश्यक हुआ करती थी जितनी कि आज हमारे समाज में पाई जाती है। विदेशियों द्वारा कथित स्त्रियों के खरीदने की प्रथा का जब हम स्पष्टीकरण करते हैं तो हमें पता चलता है कि वास्तव में यह प्रथा

पश्चात् वहाँ की देशी सभ्यता का छिन्न-भिन्न हो जाना अनिवार्य हो गया। दोनों जातियों के पारस्परिक सम्पर्क का सबसे भयंकर परिणाम नये-नये रोगों—जैसे चेचक, खसरा, मोतीझिरा आदि—के रूप में प्रकट हुआ, जिनसे बचने की कोई युक्ति परम्परा से इंडियन लोगों ने सीखी ही न थी। फलतः, समूची-की-समूची जातियों और वर्गों का अस्तित्व नष्ट हो गया और जो बचीं भी, उनके प्रतिनिधियों की संख्या अब बहुत कम रह गई है।

महावीर और अन्य तीर्थंकर

धर्म, योग और तप द्वारा दिव्य जीवन प्राप्त करनेवाले मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले उन व्यक्तियों की संज्ञा जैन साहित्य में तीर्थंकर है, जो आसानी से संसार-सागर से पार होने की क्षमता रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'अरहत' शब्द का भी प्रयोग होता है। आध्यात्मिक जीवन-विकास की सीढ़ियों के अनुसार सबसे ऊँची सीढ़ी सिद्धों की है। उससे उतरकर निचली सीढ़ी अरहतों की है, जिनका सम्बन्ध प्रमुख रूप से लोकजीवन के बीच विचरण करनेवाले संतों से है। अपने साथ अन्य व्यक्तियों का कल्याण करना और समय-समय पर ज्ञान का प्रकाश फैलाना उनका प्रमुख उद्देश्य इस जीवन में हुआ करता है। इसी क्रम में अरहत से निचली सीढ़ी 'आचार्य' की, आचार्य से निचली 'उपाध्याय' की और सबसे निचली सीढ़ी 'साधु' की मानी जाती है। सिद्ध, अरहत, आचार्य, उपाध्याय, और साधु सामूहिक रूप से 'पंचपरमेष्ठिन्' कहे जाते हैं, और क्रिया-व्यापार की दृष्टि से इनकी पाँच स्थितियाँ पंच कल्याण के नाम से पुकारी जाती हैं। ये पंच कल्याण (१) स्वर्गावतरण, (२) मन्दराभिषेक, (३) दीक्षाकल्याण, (४) केवलोत्पत्ति, और (५) परिनिर्वाण कल्याण हैं। गति की दृष्टि से प्रत्येक जीव की देव, नर, नरक और त्रियक ये चार गतियाँ हैं। जन्म-मृत्यु-पूर्ण संसारचक्र से मुक्त स्वर्ग में पहुँची हुई शुद्ध देवगति की-आत्माओं की संज्ञा सिद्ध है। सिद्ध-स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वर्गीय देव-आत्माओं को भी पृथ्वी पर मानव रूप में आकर व्रतपूर्वक धर्म, योग और तप द्वारा अपना और लोक का जीवन-कल्याण करना होता है। ये आत्माएँ जानती हैं कि शरीर-बन्धन के कारण मनुष्य को अपूर्ण इन्द्रियग्राह्य ज्ञान हुआ करता है। इसी से इंद्रिय-सुख की वस्तुओं से मनुष्य को राग होता है, जिनका अभाव दुःख का कारण बन जाता है। इसलिए दुःख से मुक्ति रागहीन होने में है। रागहीन होने के लिए इन्द्रिय-दमन, धर्म, योग और तप का मार्ग अपनाना पड़ता है। लोक में ज्ञान के प्रकाश को फैलाने के लिए ही समय-समय पर तीर्थंकरों का उदय हुआ, जिनमें चौबीस अत्यन्त प्रधान हैं। अनुश्रुति के अनुसार महावीर जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर थे और वह ईस्वी पूर्व छठी शताब्दि में विद्यमान थे। सबसे पहले तीर्थंकर ऋषभ (वृषभ) देव अथवा आदिनाथ थे।

ऋषभ देव का जन्म श्रावस्ती की विनिता नगरी के इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय राजा नाभिराय चौदहवें कुलकर के घर में मरुदेवी के गर्भ से हुआ। इनकी माता को स्वप्न में बैल के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम वृषभ (ऋषभ) देव हुआ। इनके सौ पुत्रों में सबसे बड़े चक्रवर्ती भरत थे। इन्हें बरगद के पेड़ के नीचे अष्टपाद (कैलाश) में मुक्ति मिली। बैल इनका चिह्न है। इन्होंने पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ सिखलाईं। साहित्यिक और औद्योगिक उपयोगी कलाएँ स्त्रियों को नहीं सिखलाई गईं। उन्हें केवल घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कलाएँ ही सिखलाई गईं। यह सतयुग के अंत में उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वराहपुराण, और भागवत में भी इनकी कथा आती है। यह नारायण के अवतार और लिपिविद्या के आविष्कर्ता भी माने जाते हैं। यह महायोगिन् और 'योगीश्वर' कहे गये हैं। योगपरम्परा में 'शिव' नाद परम्परा के आदि योगी होने से आदिनाथ और 'योगीश्वर' कहलाते हैं। कैलाश में उनका वास है। वृषभ उनका वाहन है, जो कि 'काम' पर विजय प्राप्त करने का स्थूल प्रतीक है। 'वृषभ' शब्द का अर्थ काम भी होता है। बरगद के नीचे समाधि में वह लीन रहते हैं। नारायण के अवतार भी साहित्य में शिव ही माने गये हैं। शिवमार्गी योगियों के साथ नादतत्त्व का प्रतीक 'नाथ' शब्द नाम के साथ जोड़ने की एक परम्परा है। क्या आश्चर्य यदि 'वृषभ देव' तथा अन्य 'नाथ' नामधारी तीर्थंकर

शैव योग-परम्परा के ही प्रतिनिधि रहे हों ! संभवतः महावीर ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस मार्ग में कुछ नवीनता लाकर वास्तविक जैन धर्म की स्थापना की।

दूसरे तीर्थंकर अजीतनाथ का जन्म अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय-परिवार में जितशत्रु के घर विजय माता के गर्भ से हुआ था। इनका जन्म होने पर शत्रु पराजित हो गए, इसलिए इनका नाम अजीतनाथ हुआ।

तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ श्रावस्ती के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम जितारि और माता का नाम सेनमाता था। राज्य में अन्न के अकाल और महामारी का अंत होने और सुख के दिनों के आन की संभावना इनके जन्म से ही होने लगी, इसलिए संभवनाथ संज्ञा इनकी हुई। अश्व इनका चिह्न था। एक हज़ार साधुओंसहित पार्श्वनाथ पर्वत पर इन्होंने प्रयाल वृक्ष के नीचे मुक्ति पाई।

अयोध्या के (वनिता देश के) इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के घर सिद्धार्थ नाम्नी रानी के गर्भ से चतुर्थ तीर्थंकर अभिनंदननाथ का जन्म हुआ।

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजा मेघरथ की सुमंगला रानी से उत्पन्न हुए थे। अयोध्या के कंकणपुर में इनका जन्म हुआ था। जन्म से पूर्व सुमंगला अत्यंत कुशाग्रबुद्धि हो गई थी। इसलिए पुत्र का नाम सुमतिनाथ हुआ।

कौशाम्बी के इक्ष्वाकुवंशी राजा श्रीधर की पत्नी सुसीमा को दोहदकाल में रक्ताभ कमल के बिछौने पर सोने की चाह हुई, जो कि पूरी की गई। बच्चे में कमल की रक्त आभा की झलक आई, इसलिए उसका नाम पद्मप्रभु हुआ। यही छठे तीर्थंकर हुए।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ बनारस के इक्ष्वाकुवंशी प्रथिस्तराज के घर पृथिवी देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए। इनकी माता के दोनों पार्श्वों (भागों) में कुष्ठ रोग के चिह्न थे। इनके जन्म पर वह रोगमुक्त हो गई। बालक भी इन चिह्नों से मुक्त उत्पन्न हुआ, इसलिए सुपार्श्वनाथ उसका नाम पड़ा।

चन्द्रप्रभु नामक आठवें तीर्थंकर चंद्रपुरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा महासेनराज के पुत्र थे और लक्ष्मणा रानी से उत्पन्न हुए थे। इनके जन्म के पूर्व इनकी माता को चंद्रमा को पी जाने का दोहद हुआ। इसके लिए रात को पानी भरा थाल, जिसमें चंद्र प्रतिबिंबित हो रहा था, इस ढंग से दिया गया कि रानी को चंद्रमा का भ्रम हुआ। वह जल पी गई, जिससे चंद्रकांतियुक्त पुत्र रानी के उत्पन्न हुआ। वही चन्द्रप्रभु कहलाया।

नवें तीर्थंकर सुविधिनाथ अथवा पुष्पदंत हुए। इनका जन्म ककंदी अथवा किष्किंदपुर में सुग्रीवराज के घर रामा रानी के गर्भ से हुआ था। श्वेताम्बरों के अनुसार इनका चिह्न कच्छप है। जन्म के पूर्व इनके कुलवालों में कलह चल रहा था, जिसका अंत इनके जन्म के बाद हुआ। इनके जन्म से सुविधि (शांतिमय रीति) परिवार में आ गई, इसलिए इनका नाम सुविधिनाथ हुआ। साथ ही इनके दाँत पुष्पकली की भाँति सुंदर होने के कारण पुष्पदंत भी इनका नाम हुआ।

दसवें तीर्थंकर भद्रिकपुर, भद्रपुर, भद्दिलपुर, अथवा वद्धिलपुर के इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय राजा दृढ़रथराज के पुत्र थे। जन्म के पूर्व एक दिन इनके पिता ज्वराक्रांत थे। उसी समय माता ने अपने हाथ से उनका स्पर्श किया। शीतल स्पर्श से राजा को पर्याप्त शांति मिली और ज्वर भी दूर हो गया। माता की यह विशेषता पुत्र में आजीवन बनी रही। इसी विशेषता के कारण वह शीतलनाथ कहलाए।

श्रेयमांशनाथ सिंहपुरी (सारनाथ) के इक्ष्वाकुवंशी राजा वासुदेव अथवा विष्णुराज के पुत्र थे। राजा के पास एक अत्यंत सुंदर सिंहासन था, जिस पर किसी प्रेत ने अधिकार कर लिया, इससे किसी की भी हिम्मत अब सिंहासन पर बैठने की न होती थी। किंतु रानी विष्णु की इस सिंहासन पर बैठने की अत्यंत प्रबल इच्छा थी। वह उस पर बैठी और उसका कुछ भी अनिष्ट न हुआ, इसलिए उसके पुत्र होने पर उसका नाम श्रेयमांशनाथ रक्खा गया।

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य चंपापुरी (भागलपुर) के इक्ष्वाकु राजा वसुपूज्य की रानी जयादेवी से उत्पन्न हुए थे। इन्द्र ने वसुपूज्य के प्रति अपनी 'वसु' मणि देकर श्रद्धा प्रकट की थी, इसलिए इनके पुत्र का नाम वासुपूज्य हुआ।

तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ माने जाते हैं। ये कंपिलपुर (फ़र्रुखाबाद) के राज्य के थे। इनका चिह्न वाराह है। इनकी माता विमलबुद्धि की थीं।

चौदहवें तीर्थंकर अनंतनाथ अयोध्या के रहनेवाले थे। इनके पिता सिंहसेन थे। माता सुजसा थी। इनके प्रभाव से अयोध्या में एक बड़ा विस्तृत सूत बीमारियों को दूर करनेवाली शक्ति से पूर्ण हो गया, इसलिए ये अनंतनाथ कहलाए। इस नामकरण का एक कारण यह भी था कि माता को अनंत रत्नों की माला के दर्शन हुए थे।

पंद्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ हुए। यह रत्नपुरी के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजा भानुराज की सुव्रता रानी से उत्पन्न पुत्र थे। माता-पिता की धर्मवृत्ति पुत्र होने से पहले अत्यंत

प्रवल हो चली थी, इसलिए पुत्र का नाम धर्मनाथ पड़ा।

सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से उत्पन्न हुए थे। हस्तिनापुर में जब महामारी का प्रकोप हुआ तो अभिषिक्त जल से भूमि को सिंचित कर रानी ने अपने निवास की रक्षा की और पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र भारत का पहला चक्रवर्ती सम्राट् हुआ।

सत्रहवें कुंथूनाथ हस्तिनापुर में गजपुरी के राजा सूरजराज अथवा शिवराज की श्रीरानी अथवा श्रीदेवी से उत्पन्न इक्ष्वाकुवंशी पुत्र थे। अज (बकरी) इनका चिह्न है। इनकी माता को स्वप्न में रत्न की ढेरी (कुंथ) के दर्शन हुए थे। इसलिए वे कुंथूनाथ कहलाए।

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ थे, जिनका जन्म गजपुर (हस्तिनापुर) के राजा सुदर्शन की पत्नी देवी रानी के गर्भ से हुआ था। इनकी माता को स्वप्न में रत्नों के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम अरनाथ पड़ा।

मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। पूर्वजन्म में तीर्थंकर होने के लिए इन्होंने अपने पाँच सहचारियों सहित एक-सी साधना की। पाँचों साधकों से आगे बढ़ने के लिए बिना उन्हें बताए एक दिन उन्होंने उनसे अधिक उपवास व्रत किया। फलतः वे तीर्थंकर तो हो गए किंतु इस छल के कारण उन्हें स्त्री रूप लेना पड़ा। ये मिथिला अथवा मथुरा में कुंभराज अथवा राजा कुबेर के घर में प्रभावती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। देवी-देवताओं ने प्रभावती के मनोनुकूल सुमनों की माला दोहदावस्था में रानी को प्रदान की थी, इसलिए मल्लि (माला) से संबंधित होने के कारण इनका नाम मल्लिनाथ हुआ।

बीसवें तीर्थंकर मुनिव्रत हरिवंशीय क्षत्रिय थे और राजगृह के राजा सुमित्र अथवा सुमित्रराज के पुत्र थे। इनकी माता पद्मावती ने कठिन व्रत किए थे, इसलिए इनका नाम मुनिव्रत हुआ।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हैं, जिनका जन्म मिथिला अथवा मथुरा में हुआ था। नीलोत्पल अथवा अशोक इनका चिह्न है। इनके पिता राजा विप्र अथवा विजय जब युद्ध में लगे थे तब रानी विप्रा गर्भवती थी। रानी के दर्शन कराने से शत्रु ने युद्ध करना छोड़ दिया। वह नमित हो गया (झुक गया), इसलिए पुत्र का नाम नमिनाथ हुआ।

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि थे, जो सौरीपुर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता को काले रत्नों (अरिष्ट) के चक्र (नेमि) के दर्शन हुए थे, इसलिए इनका नाम अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ हुआ। शंख इनका चिह्न है। इन्हें काठियावाड़ गुजरात में महाविष्णु अथवा वेत वृक्ष के तले मोक्ष-लाभ हुआ। ये बाल ब्रह्मचारी थे। राजमती अथवा राजल कन्या इनकी मँगतेरी थी। बारात के भोज के लिए मारे जानेवाले पशुओं की पंक्ति देखकर इन्हें विरक्ति हुई और कंगन तोड़कर यह वैरागी हो गए। यह देखकर राजमती भी संसार त्यागकर विरक्त हो गई।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं। भद्रबाहु-रचित कल्पसूत्र के अनुसार, जो कि ईसा से तीन सौ पूर्व वर्ष की रचना है, पार्श्वनाथ काशी के इक्ष्वाकु-वंशी राजा अश्वसेन की वामा नामक रानी से उत्पन्न हुए थे, और हेमकोष के अनुसार कुशस्थल (दक्षिणी पांचाल) की राजधानी कान्यकुब्ज के राजा नरवर्मन की पुत्री प्रभावती से, जो कि हेमचंद्र के त्रिषष्टि शलाका ग्रंथ के नवम पर्व के आधार पर प्रसेनजित की बहिन थी, उनका विवाह हुआ था। राजकुमार पार्श्व प्रजा के प्रियपात्र थे। अपनी इस लोकप्रियता के कारण ही वह 'पुरिसादाणीय' (लोगों के प्रिय) के नाम से पुकारे जाते थे। तीस वर्ष की आयु में ही इन्हें विरक्ति हो गई और राज्य त्यागकर वह साधु हो गए। विशाला नामक पालकी पर बैठकर ये आश्रमपद उपवन में पहुँचे, जहाँ साढ़े तीन दिन तक व्रत रखकर इन्होंने संन्यास लिया और तिरासी दिन के ध्यान-तप के बाद चौरासीवें दिन इन्हें 'केवल-ज्ञान' प्राप्त हुआ। आठ गण और उनके गणाधार शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मचारी, सौम्य, श्रीधर, वीरभद्र और यश इनके भक्त हो गए। आर्यदत्त के साथ सोलह हज़ार श्रमण थे, पुष्पकुला के साथ अड़तीस हज़ार भिक्षुणियाँ, सुव्रत एक लाख चौंसठ हज़ार सामान्य गृहस्थ लोगों का मुखिया था और सुनंदा तीन लाख सत्ताइस हज़ार स्त्रियों की अधिनेत्री थी। ये सबके सब पार्श्वनाथ के अनुयायी हो गये।

पार्श्व के अनुसार ज्ञान, श्रद्धा और सदाचार ही मोक्ष प्राप्ति के सच्चे हेतु हैं। किंतु पहचान की आवश्यकता के लिए बाहरी बाना भी आवश्यक हो जाता है। श्रमण और गृहस्थों का धर्म एक-सा नहीं हो सकता। गृहस्थ के लिए अति कठोर साधना को निभा सकना अत्यंत कठिन है और सामान्य वस्त्रों की आवश्यकता श्रमणों को भी पड़ जाती है। साधना के मार्ग में श्रमणों को कठिन व्रत से काम लेना आवश्यक होता है। जन्म-मरण के दुःख से मुक्त होने के लिए संचित कर्मों का नाश करना अत्यंत आवश्यक है, जिसके लिए मनोयोगपूर्ण तप-ध्यान की

आवश्यकता है। इंद्रियदमन भी कम आवश्यक नहीं। मोह से मुक्त होना और इंद्रियासक्तियों से बचना ये दो बातें ऐसी हैं जिनके बिना साधक का काम नहीं चल सकता। इसलिए प्रत्येक साधक के लिए पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—चार व्रतों का विधान किया था। प्रत्येक पार्श्वमतानुयायी को—और इस संप्रदाय में आने के लिए सभी के द्वार खुले हुए थे—चार प्रतिज्ञाएँ करनी होती थीं—

(१) मैं प्राणियों की हिंसा नहीं करूँगा (अहिंसा)।
(२) मैं सदा सत्य बोलूँगा (सत्य)।
(३) मैं चोरी नहीं करूँगा (अस्तेय)।
(४) मैं कोई संपत्ति नहीं रक्खूँगा (अपरिग्रह)।

पार्श्वानुयायी श्रमणों को अधोवस्त्र और उत्तरीय पहनने की अनुमति थी। सौ वर्ष की आयु भोगकर पार्श्वनाथ ने समवेत शिखर पर देवदारु अथवा धत वृक्ष के तले तिरासी साधुओं सहित मोक्षलाभ किया।

पार्श्वनाथ के लगभग दो सौ वर्ष बाद हमारे चरितनायक चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ। चौबीसों तीर्थंकरों में वर्द्धमान महावीर और पार्श्वनाथ ही ऐसे हैं, जिनकी ऐतिहासिकता में किसी को भी सन्देह नहीं और धार्मिक इतिहास में जिनका विशेष महत्व है।

वर्द्धमान महावीर का जन्म विदेह राज्य के गण-तन्त्र में कुंद-ग्राम नामक नगर में, सम्भवतः ईसा से ५७० वर्ष पूर्व, उस ग्राम के मुखिया सिद्धार्थ के घर त्रिशला क्षत्राणी के गर्भ से हुआ था। सिद्धार्थ इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे, कश्यप इनका गोत्र था और शाखा ज्ञात्रिक थी। त्रिशला वैनग्राम के वशिष्ठ-गोत्री मुखिया चेट्टक की बहिन थी। बौद्ध-साहित्य में महावीर को निगंठ नायपुत्त, नामपुत्त वा नाटपुत्र (निग्रन्थनाथपुत्र अथवा ज्ञातिपुत्र) कहा गया है। वैनग्राम वैशाली (वर्तमान बसाढ़) के समीप था। बसाढ़ पटना से सत्ताईस मील उत्तर की ओर है। रागातीत होने के कारण बच्चे का नाम वर्द्धमान पड़ा। वीर, जिन, अरहत, शासनायक, बुद्ध, वैशालीय, और भगवत आदि शब्दों का प्रयोग भी साहित्य में महावीर के लिए मिलता है। चेट्टक का सम्बन्ध उस समय के बड़े-बड़े राज-घरानों से था। अजातशत्रु के अनुकरण पर चेट्टक ने भी अपना नाम जियशत्रु (जीतशत्रु) रक्खा था। त्रिशला के लिए साहित्य में लिच्छवीकुमारी, विदेह-दत्ता, प्रियकारिणी, आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है और सिद्धार्थ के लिए श्रेयांस और यशांस शब्दों का। कुंदग्राम के लिए कुंदपुर अथवा कोल्लाग शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। सिद्धार्थ की दो और संतानें, जो महावीर से बड़ी थीं, नंदिवर्द्धन और सुदर्शना थीं।

आचारांग सूत्र (२, १५, १६) के अनुसार महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। महावीर के जन्म के विषय में कल्पसूत्र तथा सूत्र कृदंग में अनेक विचित्र कथाएँ हैं। कल्पसूत्र के अनुसार पूर्वजन्म के वासस्थान पुष्पोत्तर से उतरकर जब महावीर संसार में आने लगे तो उनकी आत्मा ने ब्राह्मण रिषभदत्त की धर्म-पत्नी देवानन्दा के गर्भ में प्रवेश किया, किन्तु कोई भी तीर्थंकर ब्राह्मण के घर में नहीं पैदा हुआ था, इसलिए शक्र (इन्द्र) ने देवानंदा के गर्भ को लिच्छवि राजकुमारी के गर्भ में प्रविष्ट करवा दिया।* इस अवसर पर त्रिशला को एक-से-एक विचित्र स्वप्न हुए। उसे चौदह अथवा सोलह स्वप्न हुए। इन स्वप्नों में उसने क्रम से उज्वल गौरवर्ण हाथी, शुभ्र बैल, श्वेत सिंह, हाथीपूजित श्वेतकमलासीन लक्ष्मी, मंदार-माला, अन्धकार को चीरते चन्द्र, दिव्य सूर्य, मोरपंख से युक्त सुवर्णमयी इंद्रध्वजा अथवा युगल मत्स्य, जलभरा सुवर्ण-घट अथवा रत्नजटित पुष्पयुक्त कलश-युग्म, भौरों से विभूषित कमल-सरोवर, लहराता हुआ दूध का सागर, लाल-मणिजटित दिव्य सिंहासन, पुष्पविभूषित रत्नजटित स्वर्गीय शय्या, पाताललोक के अधीश्वर देवता, मेरुपर्वताकार रत्नमंजूषा तथा होमाग्नि प्रज्वलित अग्नि को देखा। देवज्ञों ने इन स्वप्नों का अर्थ लगाकर बतलाया कि बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट् होगा या विश्वकल्याणकारी महान् तीर्थंकर।†

* बुद्ध के जन्म के विषय में भी इस प्रकार की कहानी बौद्ध साहित्य में है। दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा इत्यादि दश परिमिताओं की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद स्वर्ग में बुद्ध जब बुद्धत्व के पूर्ण अधिकारी हो गए तो पृथ्वी पर मानव रूप में जन्म लेने के लिए उपयुक्त देश, समाज, जाति आदि चुनने की सोचने लगे। उन्होंने मगध देश के अंतर्गत शाक्य भूमि और इक्ष्वाकु क्षत्रिय-वंश ही चुना। ब्राह्मणों के एकांतिक विरोध में, अध्यात्म-विद्यामूलक क्षत्रियों में उठी हुई चेतना की सुदृढ लहर का पता इन कथाओं से चलता है।

† बुद्ध तथा अन्य तीर्थंकरों की माताओं के द्वारा भी इस प्रकार के स्वप्न देखे जाने की बात साहित्य में मिलती है। लोकविश्वास की समान ध्वनि की सूचना भी इससे मिलती है।

स्वप्नों की यह कथा उस लोक-पुकार को ध्वनित करती है, जो किसी दुःखनिवारक महान् धर्म-संस्थापक क्रांतिकारी के जन्म की कामना कर रही थी।

पुत्र की उत्पत्ति पर बड़ा आनन्द मनाया गया। क़ैदी मुक्त किये गये। भूमि, अन्न, धन दान किए गए।

तीन दिन का होने पर बच्चे को चन्द्र-सूरज दिखलाये गये। छठे दिन छठी संस्कार हुआ। बारहवें दिन बड़े समारोह और प्रीतिभोज के साथ बालक का नाम ऐश्वर्य-वृद्धि के कारण 'वर्द्धमान' रक्खा गया। किंतु देवताओं ने महावीर नाम रक्खा, जो कि लोगों में प्रचलित हुआ। अनश्रुति के अनुसार महावीर जब गर्भ में सीधे रहे तो माता को सन्देह हुआ और वह दुःख मानने लगी कि कोख शायद इस बार खाली रह गई है। तब दुःखी माता को प्रसन्न करने के लिए महावीर हिले डोले और उन्होंने निश्चय किया कि माता-पिता के जीते जी वह घरबार नहीं छोड़ेंगे।

बाल्यकाल में अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य महावीर ने किए। इन कथाओं का विशद वर्णन जैन-साहित्य में मिलता है। आठ वर्ष की अवस्था में इन्हें विद्याध्ययन के लिए पाठशाला में भेजा गया। हेमचंद्र (सन् १०८८ ई० से सन् ११७४ ई० तक) के "त्रिसष्टिशलाका पुरुष-चरित्र" के अनुसार पूर्वसंस्कारों के कारण स्वतः ही महावीर सर्वविद्यासम्पन्न हो गए। उन्हें पाठशाला की शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं हुई।

दिगंबरों के अनुसार महावीर ब्रह्मचारी ही रहे, किन्तु श्वेताम्बरों के आचारांग सूत्र (२, १५) के अनुसार महावीर का विवाह कुंडिन्यगोत्र की यशोदा नामक कन्या से हुआ था, जिससे उनकी अणोज्जा (अनुजा) नाम की पुत्री भी हुई थी, जिसका विवाह जमालि से हुआ था। जमालि बाद को महावीर के अनुयायी हुए। जमालि की अनुजा से एक पुत्री हुई थी, जिसके शेशवती और यशोवती ये दो नाम थे।

महावीर का यौवन-काल बड़े आनंद और सुख से बीता। जब वह अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब इनके माता-पिता का देहांत हो गया। भाई तथा जनता के नये दुःख के ख़याल से महावीर कुछ और समय तक घर में रुके रहे, पर तीस वर्ष के होने पर उन्होंने कुटुंबियों की अनुमति लेकर परिवार त्याग साधु-जीवन अपना लिया। कल्प-सूत्र के अनुसार इस समय उन्होंने तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख सुवर्ण मुद्राएँ दान कीं। अपने दोनों हाथों से स्वयं केश नोचकर उन्होंने अपना केशलोचनसंस्कार किया और पार्श्वनाथ-संप्रदाय में दीक्षित होकर प्रतिज्ञा की कि बारह वर्ष तक मैं अपने शरीर की चिंता न करूँगा और महान् शक्तियों से आई हुई सभी आपदाओं को बिना किसी विरोध के स्वीकारूँगा। अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग ५६३ ई० पूर्व की है, किंतु विद्वानों ने महावीर का जो समय-अनुसंधान किया है, उसके हिसाब से ५४० ई० पूर्व की होनी चाहिए। कुंडनग्राम के बाहर के वन में अशोक वृक्ष के नीचे महावीर ने ढाई दिन उपवास कर पहली दीक्षा ली। शरीर सुखाकर जीवन-मरण के दुःख-चक्रों से निर्वाण पाना ही इस घोर तप का उद्देश्य था, जिसे महावीर अपना रहे थे। कई दिनों तक जल भी उन्होंने नहीं पिया। उन्होंने अपनी सब संपत्ति दे डाली। कहा जाता है कि इस समय इंद्र ने उन्हें वस्त्र दिये और देवताओं तथा विश्रमण देव ने साक्षी दी। महावीर को मति-ज्ञान, श्रुति-ज्ञान और अवधि-ज्ञान पहले से ही था। अतः वे अब मनः-पर्याय और केवल-ज्ञान की प्राप्ति में लग गए, ऐसा श्वेतांबरों का कथन है। किंतु दिगंबरों के अनुसार छः महीने के योग और निश्चेष्ट समाधि के बाद भी जब वे इन दो ज्ञानों को नहीं प्राप्त कर सके तो वे कुलपुर गये, जहाँ के राजा कुलाधिप ने उन्हें भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित किया, उन्हें दूध और भात भोजन में दिया, जिसका पारायण बड़ी प्रसन्नता से महावीर ने किया। इसके उपरांत वन में लौटकर घोर तप उन्होंने किया, फिर भी ज्ञान सिद्ध न हुआ। तब वे उज्जैन चले गये, जहाँ शिव-मन्दिर में उन्होंने घोर तप किया। महादेव-पार्वती ने अनेक परीक्षाएँ उनकी लीं, पर सब प्रकार से महावीर अडिग रहे और अब तप योग के बाद उन्हें मनःपर्याय ज्ञान सिद्ध हुआ। शांति-पूर्ण केवल ज्ञान की यह प्राप्ति, जिसके बाद वे अरिहंत, परमश्रेष्ठिन, अर्हत, जिन, तीर्थंकर और महावीर कहलाये, उन्हें पार्श्वनाथ पर्वत के समीप बहनेवाली रिजुपालिका नदी के तट पर स्थित जृंभक गाँव के एक किसान के खेत में बने एक पुराने मंदिर में हुई थी।

केवल-ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही महावीर घर-बार-सुख-दुःख रहित सच्चे साधु बन पाये। साधु-जीवन में उनकी रहनी क्या थी, इस विषय में जैन एकमत नहीं हैं। कुछ के अनुसार तेरह वर्ष तक कम-से-कम एक वस्त्र का उपयोग वे अवश्य करते रहे, जिसे अंत में सोमदत्त नामक किसी ब्राह्मण ने ले लिया। पार्श्वनाथ के अनुयायियों में अनेक आध्यात्मिक जीवन-विरोधिनी दुर्बलताएँ भर गई थीं, इसीलिए पार्श्वनाथ ने उनका साथ छोड़कर

युगानुकूल परिवर्त्तन किए थे। पार्श्वनाथी चार व्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) के साथ महावीर ने पाँचवाँ व्रत ब्रह्मचर्य का और जोड़ दिया। पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्रों का उपयोग किया करते थे। महावीर ने इसकी आवश्यकता नहीं बतलाई।

पार्श्वनाथ और महावीर के अनुयायियों के पारस्परिक संबंध का पता केशी-गौतम संवाद से चलता है। केशी पार्श्वनाथ का अनुयायी था और गौतम (इंद्रभूति) महावीर का। श्रावस्ती के तिंडुक और कोष्ठक वनों में दोनों क्रमशः रहा करते थे। दोनों के पर्याप्त संख्या में अनुयायी भी थे। केशी के सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए गौतम युगोचित परिवर्त्तनों की आवश्यकता बतलाता है और पंचम व्रत की भी पुष्टि करता है। उसके अनुसार वाह्य चिह्न ही सब कुछ नहीं हैं—सद्ज्ञान, सद्विश्वास और सदाचार का महत्व मोक्ष में प्रमुख है। पर पार्श्व-मतावलंबी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे थे।

महावीर संभवतः ६ वर्ष तक आजीविक संप्रदाय के प्रमुख समर्थक मंखलिपुत्र गोशाल के भी संपर्क में रहे। आजीविक संप्रदाय के सिद्धान्तों का पता अशोक के शिलालेखों, दशरथ के दानपत्रों, बराबर तथा नागार्जुन की पहाड़ियों के शिलालेखों, भगवती-सूत्र, मज्झिमनिकाय, सुत्तपिटक निद्देश, उवासगदशाओ, दीघनिकाय, विनयपिटक, जैनसूत्रों तथा चीनी और जापानी भाषा के 'आसीकि दर्शन' आदि से चलता है।

ग्रीस के इपिक्यूरियन तथा भारत के चार्वाकों की भाँति इनके सिद्धांत भौतिक भोगवादी थे। नियतिवाद को अकर्मण्य बना देनेवाली विचारधारा सिद्धांत रूप में ही नहीं, व्यावहारिक रूप में भी इनमें प्रबल थी। यद्यपि समय-समय पर ये लोग भी नियम से तप-उपवास आदि करते और मांस-मदिरा-मोहिनी से दूर रहने का यत्न करते थे, किंतु अन्य समयों में अपनी अतृप्त लालसाओं की पूर्ति ये अति की सीमा तक कर लेते थे! इनके अनुसार दुनिया में न उत्थान है, न कर्म है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषकार है, न पराक्रम है, सब बातें पहले से ही नियत हैं। मज्झिमनिकाय के सचक गौतम प्रसंग से पता चलता है कि ये लोग नंगे रहा करते थे। शीतल जल का उपयोग, अन्न ग्रहण करना, अपने लिए विशेष रूप से तैयार की गई वस्तु स्वीकार करना, तथा स्त्रियों का सहवास आदि इन आजीविकों में वर्ज्य नहीं था। स्वयं मंखलिपुत्र गोशाल भी नाचने-गाने, शराब पीने, और भोग-विलास में अपना समय बिताया करता था।

इन्हीं दुराचारी कृत्यों तथा अहितकारी विचारों के कारण महावीर ने इस संप्रदाय का संपर्क त्याग दिया था और एक समय गोशाल को खूब फटकारा भी था। भगवती-सूत्र से पता चलता है कि श्रावस्ती में महावीर तथा उनके अनुयायियों से गोशाल ने युद्ध भी किया, किंतु अंत में वह महावीर का अनुयायी हो गया। इसी भाँति चंडकौशिक भी महावीर का शिष्य हुआ।

उनका सबसे पहला शिष्य गौतम इन्द्रभूति नामक एक कर्मकांडी ब्राह्मण हुआ, जिसके विषय में अनेक कहानियाँ चलती हैं। एक कहानी यह है कि गौतम अपने दश भाइयों सहित पावा (अपापा) नगर में यज्ञ में पशुबलि करनेवाला था। इस समय महावीर भी वहाँ थे। महावीर ने उस हिंसक यज्ञ का घोर विरोध किया, जिससे इन्द्रभूति और उसके दशों भाई महावीर से विवाद करने लगे। महावीर से सभी प्रश्नों का शांत, संतोषजनक उत्तर उन्हें मिला और फलतः वे दशों महावीर के शिष्य हो गये और आगे चलकर महावीर के संघ के दश प्रधान गणाधार बने। दूसरी कथा के अनुसार किसी ब्राह्मण ने एक श्लोक का अर्थ पूछा, जिसे कि उसने महावीर से सुना था और जिसमें काल, द्रव्य, पंचअस्तिकायातत्त्व और लेश्य जैसे जैन पारिभाषिक शब्द थे। गौतम इनको समझने के लिए महावीर के पास गया और उनका शिष्य हो गया। इसके पाँच सौ अनुयायी थे। भाइयों और इन अनुयायियों सहित वह महावीर का सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान शिष्य बन गया। उत्तराध्यायन में महावीर ने इन्द्रभूति को जो उपदेश दिया था, उसका विवरण इस प्रकार है। "जीवन वृक्ष से पत्तों की तरह झड़ जाएगा। कमलपत्र पर ओस की बूँद की भाँति वह क्षण-स्थायी है। कर्म के प्रभाव से मुक्त होने की क्षमता मनुष्य-योनि में ही जीव में आती है। मनुष्य-योनि अनन्त तपस्याओं के बाद मिलती है, इसे प्राप्त करने से पहले न जाने कितने युगों तक जड़ रूप में जल, पत्थर, वृक्ष, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत, नरक आदि की योनियों में जीव भटकता रहा होगा। स्वर्ग में जन्म लेने से भी विशेष लाभ नहीं। केवल मानव-योनि ही ऐसी है, जिसमें आकर जीव अपना मोक्ष साध सकता है। गौतम, तुमने जीवनधारा के अथाह सागर को लगभग पार कर लिया है, केवल किनारे पर अब पहुँचना शेष है। तब क्यों समय नष्ट कर रहे हो? बुढ़ापे के आने पर शक्तियाँ क्षीण हो जाएँगी। सुख-दुःख से परे कर्म-बन्धनों से मुक्त केवल दशा के ज्ञानवान जीवन की सिद्धि में

लगने का अब समय है, क्यों नहीं इस महान् कार्य में लग जाते ?" इस उपदेश का इतना गहरा प्रभाव गौतम पर पड़ा कि वह महावीर का अनन्य भक्त हो गया। पर कल्पसूत्र का कहना है कि आजीवन महावीर पर उसका राग बना रहा। अतः महावीर के निर्वाण के बाद ही उसे सच्चा ज्ञान हुआ और उसने केवल-ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया।

गौतम ने बानवे वर्ष की अवस्था में राजगृह में मोक्ष पाया। इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बारह वर्ष बाद तक वह जीवित रहा। उसकी जीवन अवधि ई० पूर्व ५४८ से ई० पूर्व ४५६ तक आती है। अनुश्रुति के अनुसार यह तिथि ई० पूर्व ६०६ से ई० पूर्व ५१४ तक निकलती है।

गौतम को दिये गये उपदेश से महावीर के सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है, पर वे अधिक स्पष्ट मज्झिमनिकाय में आये महानाम-बुद्ध प्रसंग से होते हैं, जहाँ महावीर निग्रंथों को उपदेश देते हुए कहते हैं—"निग्रंथों, तुमने पूर्व जन्म में पाप कर्म किए हैं, उनकी इस घोर तपस्या से जड़ ही उखाड़ डालो। मन, वचन और काया की समवृत्ति से नये पाप नहीं बनते और तपस्या पुराने पापों को क्षीण करती है। इस प्रकार पुराने पापों के क्षय और नये पापों के रुकाव (संवर) से आयति रुक जाती है। आयति रुक जाने से मनोयोग में स्थिति होती है और धीरे-धीरे पुरातन कर्मों का क्षय होता है, जिससे वेदना से परे की भूमि में मनुष्य जा पहुँचता है।"

कल्पसूत्र में बतलाया गया है कि सांसारिक जीवन को त्यागने के बाद महावीर ने पहली वर्षा आस्थिक ग्राम में, तीन वर्षाएँ चंपा में, बारह वैशाली तथा बनिज ग्राम में, चौदह राजगृह तथा नालंदा के आस-पास, छः मिथिला में, दो भद्रीक में, एक अलभीक में, एक पुनीत भूमि में, एक श्रावस्ती में और एक पावा (चंपा) में राजा हस्तिपाल के संस्थागार में बिताई। पावा की वर्षा अंतिम वर्षा थी। वहीं ई० पूर्व ५२६ में उन्होंने निर्वाणलाभ किया। परंपरा के अनुसार ७२ वर्ष की महावीर की जीवन-अवधि है और ई० पूर्व ५९९ में उनका अवतरण माना जाता है। किंतु इतिहास के कुछ तथ्य इसके विपरीत जाते हैं, अतः उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। अजातशत्रु बुद्ध के निर्वाण से आठ वर्ष पूर्व अपने पिता को मारकर गद्दी पर बैठा था। इस हिसाब से इस समय बुद्ध की अवस्था बहत्तर वर्ष की थी, क्योंकि बुद्ध की कुल जीवन-अवधि अस्सी वर्ष की रही। बिंबिसार से गौतम ने पहली भेंट बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद पैंतीस वर्ष की अवस्था में की थी। इस समय बिंबिसार को राज्य करते पंद्रह वर्ष हो गये थे। इसलिए बिंबिसार के राज्यारोहण के समय गौतम की आयु बीस वर्ष की थी। बौद्ध साहित्य के अनुसार बिंबिसार गौतम से पाँच वर्ष छोटे थे, इसलिए राज्यारोहण के समय बिंबिसार की अवस्था पंद्रह वर्ष की थी।

इतिहास की नवीनतम खोजों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-काल ईस्वी पूर्व ३२५ से आरंभ होता है। चंद्रगुप्त ने चौबीस वर्ष राज्य किया और बिंबिसार ने अट्ठाईस वर्ष। इसलिए अशोक का राज्य-काल चंद्रगुप्त के बावन वर्ष बाद ई० पूर्व २७३ से आरंभ होता है। सिंहली बौद्ध-ग्रन्थ महावंश के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक राज्यारंभ के चार वर्ष बाद और बुद्ध-निर्वाण के दो सौ अठारह वर्ष बाद हुआ। इसलिए अशोक का राज्याभिषेक ईस्वी पूर्व २६९ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण ई० पूर्व ४८७ में। इस आधार पर बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५६७ में और बिंबिसार का ई० पू० ५६२ में हुआ। ई० पूर्व ५४७ में बिंबिसार गद्दी पर बैठा। ५३२ ई० पूर्व पहली बार बिंबिसार बुद्ध से मिले थे। बुद्ध के जीवन-काल में सैंतीस वर्ष बिंबिसार ने राज्य किया। इसलिए ई० पूर्व ४९५ में बिंबिसार को मारकर अजातशत्रु गद्दी पर बैठा।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध, महावीर और कुणीक (अजातशत्रु) समसामयिक गिनाये गये हैं। इतना ही नहीं दीघनिकाय के पासादिक सुत्त (३—६) में शामगाम में चुंद वर्षावास के दिनों में आनंद को समाचार सुनाता है कि पावा में अभी-अभी निगंठ नाथपुत्र (महावीर) का अवसान हुआ है और निगंठों में फूट फैलने लगी है और आनंद जाकर इस समाचार को गौतम को सुनाते हैं। महावीर की मृत्यु के ताज़े समाचार की सूचना इसी ग्रंथ में पावा के मल्लों को (परियाय सुत्त ३—१० में) सारिपुत्र देते हैं। इस प्रसंग से यही पता चलता है कि गौतम अब अत्यंत वृद्ध हो चले हैं। कमर पिराने से अधिक समय तक उपदेश नहीं दे सकते। दीघनिकाय के महावग्ग के महापरिनिर्वाण सुत्त के चुंद (कर्मार=सुनार) के अंतिम भोजन-प्रसंग से यह भी अनुमान हो सकता है कि चुंद ने इसी अवसर पर निगंठ की मृत्यु का समाचार आनंद को सुनाया होगा। इस भोजन के उपरांत कुछ ही दिनों बाद गौतम को निर्वाण-लाभ हुआ था। इसलिए ई० पूर्व ४८७ में ही संभवतः महावीर का भी निर्वाण हुआ।

बौद्ध-साहित्य में प्रसेनजित एक स्थल पर महावीर को

अवस्था में अपने से बड़े और बुद्ध को समवयस्क बतलाते हैं। इससे प्रसेनजित का भी जन्म ई० पूर्व ५६७ में होना चाहिए। प्रसेनजित को स्पष्ट रूप से यह कहने की आवश्यकता पड़ी कि महावीर उम्र में बड़े हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इतना अधिक अंतर दोनों की अवस्था में न रहा होगा कि भेद स्पष्ट पहिचाना जा सके। दोनों में दो-तीन वर्ष तक का अंतर हो सकता है। इसलिए महावीर का जन्म गौतम के जन्म से तीन वर्ष पूर्व यदि मानें तो ई० पू० ५७० में उनका आविर्भाव होना चाहिए।

उत्तरकालीन जैन-साहित्य में महावीर के जीवन-कार्यों का जो ब्यौरा मिलता है, उससे महावीर की जीवन-अवधि बहत्तर वर्ष की आँकी जाती है, किंतु ऊपर के आधार पर उनकी अवस्था लगभग तिरासी वर्ष की निकलती है और जीवन-अवधि ई० पू० ५७० से ई० पू० ४८७ तक आ जाती है। परम्परा के अनुसार महावीर का अवसान आसोज कृष्णपक्ष अमावस को हुआ था। किंतु यदि हेमचंद्र की परंपरा को माना जाय तो महावीर की जीवन-अवधि ई० पू० ५४५ से ई० पूर्व ४६८ तक आती है। और विक्रम-संबंधी जैन-साहित्य के आधार पर वही ई० पूर्व ६१८ से ई० पू० ५४६ तक आती है।

अब यदि पार्श्वनाथ के निर्वाण और महावीर के आविर्भाव-काल का अंतर एक सौ अठत्तर वर्ष ठीक है और पार्श्वनाथ ने सौ वर्ष की आयु भोगी तो पार्श्वनाथ की जीवन-अवधि ई० पूर्व ८४८ से ७४८ तक आती है।

जैन सिद्धान्तों का सुसंगठित संबद्ध रूप से लेखा ईस्वी पूर्व तीन सौ से आरंभ होता है। इसलिए उन रचनाओं में अपने समय तक की क्रियाशीलता का पता चल सकता है। संभवतः ऐसा सबसे पहला यत्न भद्रबाहु ने चंद्रगुप्त मौर्य के समय में किया था। भद्रबाहु के साथ चंद्रगुप्त मौर्य भी दक्षिण की ओर चला गया था। मैसूर के श्रवण बेलगोला स्थान के शिलालेख इस बात की ओर संकेत करते हैं। और यहीं चंद्रगुप्त की मृत्यु हुई थी। चंद्रगुप्त का जैनधर्म स्वीकार करने का यह एक प्रबल प्रमाण है।

बौद्धों और जैनों की विचारधारा ने उन विश्वासों पर आघात किया था, जिसमें सामान्य जनता के युगों के संस्कार संचित थे। बौद्धों का मध्यम मार्ग राजाओं को अधिक रुचिकर हुआ था सही, किन्तु उसकी व्यापकता तथा आंतरिक दुर्बलताओं ने उसे कालान्तर में भारत से बाहर जा खदेड़ा। 'सब मनुष्य समान हैं, राजा होने से अच्छा तो मनुष्य होना है' की विचारधारा अधिक समय तक उच्च वर्गों और राजाओं को भली नहीं लग सकती थी। वेदों, देवी-देवताओं और अहिंसा में उन्हें युगों से विश्वास था। ब्राह्मणों की मान्यता को भी वे मानते थे। इहलोक और परलोक दोनों को बनाने की चाह उन्हें थी। वर्ण-व्यवस्था के बिना उनका काम नहीं चल सकता था। अवतारवाद, जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र में लोकजीवन का सहज विश्वास था। जीवन की बदली हुई परिस्थितियों में बौद्ध धर्म जब युग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सका तो उसका घोर विरोध भारत में किया गया और यहाँ से बाहर जाते-जाते वह अपनी काया ही पलट गया। यवनों के आक्रमण ने उसकी रही-सही जड़ें भी काट डालीं और भारत से बौद्ध धर्म ग़ायब ही हो गया।

जैन-धर्म की लहर भी ब्राह्मण-धर्म की एकछत्र एकांगी सत्ता के विपरीत उठी हुई प्रतिक्रिया थी सही, किन्तु प्राचीन वैदिक धर्म के मेल में होने से वह अतिवादी न थी। वेदों की सत्ता न मानने पर भी जैन ब्राह्मणों द्वारा खदेड़े नहीं गये, क्योंकि जैनों ने हिन्दुओं और खासकर ब्राह्मणों के देवताओं की अवहेलना नहीं की थी। अम्ब, अम्बरस, शाम, सबल, रुद्र,, महारुद्र, महाकाल, असिपत, धनु, कुंभ, महाघोष, खर स्वर, असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, दीपकुमार, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, ज्योतिषी, विमानवासी, तिर्यक, जाम्बूक, और लोकन्तिक, आदि आदि अनेक प्रकार के देवता उनमें माने जाने लगे थे। जाति-पाँति की विशेष परवाह न करने पर भी ब्राह्मणों के क्रोधभाजन जैन लोग न हुए, क्योंकि उन्होंने जन्म, विवाह, मृत्यु, आदि के संस्कारों तथा मन्दिरों की पूजा में ब्राह्मणों की क्रियाओं को रहने दिया, उसमें दखल न दिया। केवल धर्म के सिद्धांतों और दर्शनशास्त्र को जैन साधु अपने हाथ में रखते थे। दर्शन में भी प्राचीन कर्मवाद और जन्मांतरवाद उन्होंने अपना लिए थे। इन सब कारणों से भारत में उनका विरोध नहीं हुआ और जैन धर्म जीवन का शक्तिदायक अंग बना रहकर भारत में जीवित रह सका।

दर्शन ज्ञान और आचार के साथ अहिंसा तत्व, कर्मवाद और जन्मांतरवाद को मिलाकर जीव की नैसर्गिक अनंत सामर्थ्य और अनंत सौख्य का आशामय संदेश तथा स्वावलंबन की श्लाघनीय शिक्षा तीर्थंकरों तथा जैन धर्म की महत्वपूर्ण देन है। काल्पनिक देवत्व पर मनुष्यत्व की यह विजय दुःखपूर्ण विश्व के लिए एक अमृत संजीवनी है।